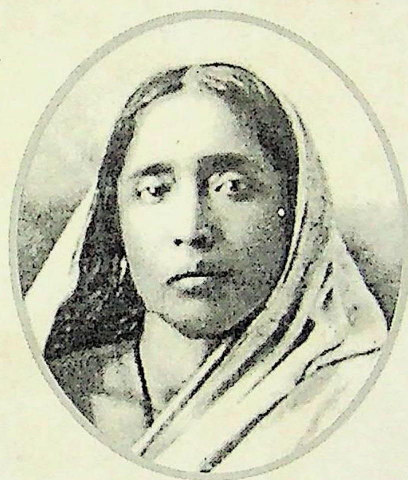
श्रीसारदादेवी

संक्षिप्त जीवनी तथा उपदेश



स्वामी अपूर्वानन्द

श्रीसारदादेवी :

संक्षिप्त जीवनी तथा उपदेश

स्वामी अपूर्वानन्द

[illegible]

श्रीसारदादेवी :
संक्षिप्त जीवनी तथा उपदेश

स्वामी अपूर्वानन्द

षष्ठ संस्करण



रामकृष्ण मठ
नागपुर

प्रकाशक :
स्वामी ब्रह्मस्थानन्द
अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ,
धन्तोली, नागपुर - ४४० ०१२

अनुवादक :
स्वामी विदेहात्मानन्द

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृतिग्रन्थमाला
पुष्पसंख्या १०१

(व ९७ : प्र ५०)

२०-७-१९९७

मुद्रक:

गिरनार ग्राफिक्स,
१७ उंटखाना लेआऊट,
नागपूर ४४० ००९.
फोन : ७४५६९९

मूल्य रु. १०.००

दो शब्द

(प्रथम संस्करण)

हमारा यह नया प्रकाशन – "श्रीसारदादेवी : संक्षिप्त जीवनी तथा उपदेश"– पाठकों के समक्ष रखते हमें प्रसन्नता हो रही है।

वर्तमान-युगावतार भगवान् श्रीरामकृष्ण की दिव्य लीला को पुष्ट करने तथा उनके दिव्य प्रयोजन को परिपूर्ण करने साक्षात् ब्रह्मशक्ति ही उनकी सहधर्मिणी श्रीसारदादेवी के रूप में धराधाम में अवतीर्ण हुई थीं। जड़वाद या भोगवाद के घोर अन्धकार में मग्न संसार के समक्ष उन्होंने दिव्य मातृभाव का परमपावन आदर्श स्थापित किया। उनका यह दैवी मातृत्व आदर्श कन्या, आदर्श गृहिणी, आदर्श संन्यासिनी, आदर्श गुरु आदि विविध रूपों में प्रकट हुआ है। वे सारे संसार की माँ थीं। पवित्रता, सरलता, प्रेम, करुणा, त्याग, सेवा आदि अगणित दैवी गुणों से विभूषित उनका उज्ज्वल जीवन तथा उनके सरल आडम्बरहीन उपदेश मोहमुग्ध भ्रान्त जीव को परमसत्य तक पँहुचाने की क्षमता रखते हैं। माताजी के दिव्य जीवन एवं उपदेशों का जितना अधिक प्रचार-प्रसार होगा, उतना ही मानजाति का कल्याण होगा। इस बात को ध्यान में रखते हुए यह संक्षिप्त जीवनी प्रकाशित की जा रही है।

हमें विश्वास है, यह पुस्तक श्रद्धावान् पाठकों के जीवनपथ को प्रकाशमान करने में अत्यन्त सहायक सिद्ध होगी।

नागपुर
१५ दिसम्बर १९८४
श्रीसारदादेवी जयन्ती

– प्रकाशक

सूची

श्रीसारदादेवी : संक्षिप्त जीवनी तथा उपदेश

******

१. आविर्भाव

भक्तपरिवार में माताजी के नाम से प्रसिद्ध, श्रीरामकृष्णदेव की लीलासहधर्मिणी श्रीसारदादेवी ने २२ दिसम्बर, १८५३ ई., अग्रहायण कृष्ण सप्तमी तिथि, बृहस्पतिवार के दिन बाँकुड़ा जिले के अन्तर्गत जयरामवाटी ग्राम में जन्मग्रहण किया था। उनके पिता रामचन्द्र मुखोपाध्याय तथा माता श्यामासुन्दरी देवी थीं। उन्होंने अपने जन्म के बारे में कहा था –" मेरा जन्म भी तो उन्हीं (श्रीरामकृष्ण) के समान हुआ था। मेरी माँ शिहड़ में देवदर्शन को गयी थीं। लौटते समय अचानक शौच की इच्छा से वे मन्दिर के निकट ही एक वृक्ष के नीचे बैठ गयीं। शौच आदि तो कुछ हुआ नहीं, पर उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानो उनके उदर में कोई वायु प्रवेश कर जाने से पेट भारी हो उठा है। माँ अभी बैठी हुई ही थीं कि उन्होंने देखा – लाल रंग के रेशमी वस्त्र पहने पाँच-छह वर्ष की एक अत्यन्त सुन्दर बालिका पेड़ से उतरकर उनके समीप आयी और पीठ की ओर से अपनी कोमल बाहें उनके गले में डालकर बोली, 'मैं तुम्हारे घर आऊँगी, माँ!' तब माँ अचेत होकर गिर पड़ीं। लोग उन्हें पकड़कर उठा लाये। उस बालिका ने ही माँ के उदर में प्रवेश किया था और उसी से मेरा जन्म हुआ।"

इसी बीच में इधर एक दिन रामचन्द्र मुखोपाध्याय भोजनोपरान्त विश्राम कर रहे थे कि उन्होंने स्वप्न में देखा – लाल रेशमी वस्त्र पहने

एक छोटीसी बालिका पीछे से आकर उनके गले से लिपटकर बोली, "बाबा, मैं तुम्हारे घर आ रही हूँ।" अपनी पत्नी के मुख से सब कुछ सुनने के पश्चात् रामचन्द्र समझ गये कि उनके गृह में भगवती का आगमन होनेवाला है। दोनों भक्तिपूर्ण चित्त से देवी के आने की प्रतीक्षा करने लगे।

माताजी के वार्तालाप से उनके नाम के इतिहास का भी पता चलता है। एक बार उन्होंने कहा था –"माँ ने मेरा नाम क्षेमंकरी रखा था। मेरा जन्म होने के पूर्व मेरी उन मौसी को, जो उस दिन यहाँ (जयरामवाटी) आयी थीं, एक लड़की हुई थी। उसका नाम सारदा था। उसका देहान्त होने के बाद मेरा जन्म हुआ। अत: मौसी ने मेरी माँ से कहा, 'दीदी, अपनी बेटी का नाम बदलकर सारदा रख लो, तो मैं समझूँगी कि मेरी सारदा ही तुम्हारे पास आयी है और मैं उसी को देखकर आनन्दित रहूँगी।' इसीलिए मेरी माँ ने मेरा नाम सारदा रखा।"

अपने माता-पिता की महानता के विषय में एक बार माताजी ने कहा था –"मेरे माता-पिता बड़े अच्छे स्वभाव के थे। पिता रामभक्त थे। इतने नैष्ठिक कि अन्य वर्णों का दान ग्रहण नहीं करते थे। मेरी माँ के मन में कितनी करुणा थी! – लोगों पर कितनी दया करती थीं, कितना आदरसत्कार करती थीं। वे अत्यन्त सरल स्वभाव की थीं।... माता-पिता की तपस्या के बिना क्या भगवान् जन्म लेते हैं? मेरी माँ लक्ष्मी के समान थीं। पूरे वर्ष भर के लिए (पूजा आदि का) सब सामान जुटाकर उन्हें सम्हाल रखा करती थीं। कहतीं कि मेरा भक्त-भगवान् का संसार है।"

श्रीसारदादेवी का जन्म देवी के अंश से हुआ था, यह तथ्य उनकी अन्य उक्तियों से भी स्पष्ट होता है। परवर्ती काल में उन्होंने बतलाया था–"देखो बेटा, बचपन में मैं देखती थी कि मेरे ही समान एक बालिका सदा मेरे साथ-साथ रहती हुई मेरे सभी कार्यों में सहायता किया करती है, मेरे साथ आमोद-प्रमोद करती है। पर दूसरे किसी के

आ जाने पर वह अदृश्य हो जाती थी। दस-ग्यारह वर्ष तक ऐसे ही चलता रहा। बचपन में जब मैं गले भर पानी में उतरकर गौओं के लिए चारा काटती थी तो वह लड़की भी मेरे साथ पानी में उतरकर चारा काटती थी।"

निर्धन परिवार में जन्म लेने के कारण सारदामणि का बाल्यकाल अत्यन्त अभाव के बीच बीता। जीवन के प्रारम्भ से ही उनमें सेवाभाव प्रस्फुटित हुआ था और काफी कम उम्र से ही वे अपनी माँ के विविध गृहकार्यों में हाथ बँटाया करती थीं। उस समय वे इतनी छोटी थीं कि रसोई बनाते समय भात की हण्डी वे स्वयं नहीं उतार पाती थीं, इसके लिए पिताजी को बुलाना पड़ता था। फिर गृहकार्य के लिए घड़ा भरकर तालाब से जल भी लाना पड़ता था। इसी अवसर से उन्होंने घड़ा पकड़कर तैरना भी सीख लिया था। छोटे भाई-बहनों * की देखभाल उनका एक प्रमुख कार्य था। थोड़ी बड़ी होने पर वे पिता के विविध कार्यों में भी सहायता करने लगीं। खेत जाकर मजदूरों को मुरमुरे दे आना, गले भर पानी में प्रवेश कर गायों के लिए चारा काटना आदि कार्य भी वे किया करती थीं। परन्तु रामचन्द्र अपनी पुत्री को देवी की दृष्टि से देखते तथा उसके प्रति अतीव श्रद्धा-भक्ति रखते थे। मानो वे सारदागतप्राण हो उठे थे।

उन दिनों बंगाल में नारीशिक्षा का नितान्त अभाव था। अत: बाल्यकाल में सारदामणि को पढ़ने-लिखने का अवसर नहीं मिला। उनके स्वयं के वार्तालाप से पता चलता है – "प्रसन्न, रामनाथ आदि पाठशाला जाया करते थे। उनके साथ कभी-कभी मैं भी चली जाती थी। कामारपुकुर में लक्ष्मी तथा मैं थोड़ा-थोड़ा 'वर्णपरिचय' पढ़ा करती थी। एक दिन भानजे हृदय ने पुस्तक छीन ली और कहा, 'लड़कियों को पढ़ना-लिखना

---

* रामचन्द्र मुखोपाध्याय के दो पुत्रियाँ – सारदा एवं कादम्बिनी तथा पाँच पुत्र – प्रसन्नकुमार, उमेशचन्द्र, कालीकुमार, वरदाप्रसन्न व अभयचरण थे।

उचित नहीं, ऐसा होने से बाद में वे नाटक-उपन्यास पढ़ेंगी।' पर लक्ष्मी ने अपनी पुस्तक न छोड़ी। घर की ही लड़की थी न – इसलिए जबरदस्ती से पुस्तक रख ली। फिर मैंने भी सब से छिपाकर किसी प्रकार एक आने में पुस्तक मँगा ली। लक्ष्मी जाकर पाठशाला में पढ़ आती, फिर लौटकर मुझे पढ़ाया करती।"

सारदामणि बचपन से ही अत्यन्त शान्त, सीधी-साधी थीं। वे सरलता की प्रतिमूर्ति थीं। खेल में संगिनियों के साथ उनका कभी झगड़ा नहीं होता था। दुसरों के झगड़े वे ही शान्त करा दिया करती थीं। देवी-देवताओं की मूर्तियाँ गढ़कर, पुष्प-बिल्वपत्र से पूजा करते हुए वे गहरे ध्यान में डूब जाती थीं। सभी उनसे स्नेह करते थे तथा उन्हें "सारू" कहकर पुकारते थे।



एक बार जयरामवाटी अंचल में भीषण अकाल पड़ा। बाद में श्रीसारदादेवी ने इस घटना के बारे में कहा था – "एक बार (१८६४ ई. में) उधर कैसा अकाल पड़ा था! कितने ही लोग भोजन के अभाव में हमारे घर आते! हमारा पिछले वर्ष का धान कोठार में रखा हुआ था। पिताजी उस धान से चावल बनवाकर और उसमें उड़द की दाल मिलाकर हण्डियों में खिचड़ी पकवाते थे। कहते, 'घर के सभी लोग इसी में से खाएँगे, और किसी के आने पर उसे भी इसी में से देना। केवल मेरी सारदा के लिए थोड़ासा अच्छे चावल का भात पकाना।' कभी-कभी तो इतने लोग आ पहुँचते कि खिचड़ी पूरी नहीं पड़ती। उसी समय फिर हण्डी चढ़ा दी जाती। वह गरमागरम खिचड़ी ज्योंही पत्तलों पर ढाल दी जाती, मैं उसे जल्दी ठण्डा करने के लिए दोनों हाथों से पंखा झलने लगती! अहा, भूख से व्याकुल सभी खाने के लिए बैठे रहते थे। एक दिन एक बागदी या डोम की लड़की आयी, तेल के अभाव में उसके सिर के बाल जटा-जूट जैसे

हो गये थे। आँखें पागल जैसी थीं। वह दौड़ती हुई आयी और नाद में गायों के लिए जो चावल की कनी भीग रही थी उसी को खाना शुरू कर दिया। लोग पुकारते ही रह गये कि घर के भीतर आकर खिचड़ी खा ले, पर उसे इतना धैर्य कहाँ! कुछ कनी खाने के बाद तब कहीं उसे सुनाई पड़ा। इतना भयानक अकाल था! उस वर्ष कष्ट पाने के कारण तब से लोगों ने कोठार में धान रखना शुरू किया।"

श्रीसारदादेवी की बालिकामूर्ति के भीतर जो दया, करुणा तथा परदु:खकातरता प्रस्फुटित होती दीख पड़ती है, वही परवर्ती काल में उनके मातृत्व के भीतर पूर्ण विकसित हो उठी थी तथा उसके दिव्य सौरभ से हजारों प्राण सुरभित हो उठे थे।

२. दिव्य दाम्पत्य

छठा वर्ष लगते ही श्रीसारदादेवी का श्रीरामकृष्ण के साथ विवाह हुआ। इस विवाह के पीछे भी एक अद्‌भुत घटना है। कहते हैं, कि शिहड़ ग्राम के शान्तिनाथ शिव मन्दिर में किसी उत्सव के उपलक्ष्य में एक नाटक का आयोजन हुआ था। इस उत्सव में आमन्त्रित हो श्रीरामकृष्ण भी आये हुए थे। निकटवर्ती गाँवों के बहुत से नर-नारियों के साथ श्यामासुन्दरी भी सारू को साथ लेकर गीतिनाट्य देखने अपने मायके शिहड़ आयी हुई थीं। कीर्तन के अवसर पर नन्ही सी सारदा एक महिला की गोद में बैठी हुई थी। गायन समाप्त हो जाने के बाद उन महिला ने विनोद में बालिका से पूछा – 'इनमें से तू किसके साथ ब्याह करेगी?' इस पर शिशु सारदा ने बिना किसी द्विधा के हँसते हुए दोनों हाथ बढ़ाकर निकट ही बैठे श्रीरामकृष्ण की ओर दिखा दिया। जिस दिन सारदा ने इस प्रकार स्वयंवर कर लिया, उस दिन उन्हें विवाह शब्द का अर्थ क्या है, यह भी मालूम नहीं था। दैवी प्रेरणा से ही उन्होंने अपने भावी पति की ओर संकेत कर दिया था। इतनी सी बच्ची के लिए अपने भावी पति की ओर इंगित कर देना और श्रीरामकृष्ण का भी पहले से ही अपनी भावी पत्नी के बारे में कह देना कि 'चिह्नित करके रखी हुई है'– ये दोनों घटनाएँ एक-दुसरे की पूरक तथा अत्यन्त अद्‌भुत हैं।

इस बीच सारदादेवी पाँचवाँ वर्ष पूर्ण कर छठे में पदार्पण कर चुकी थीं। उधर दक्षिणेश्वर के कालीमन्दिर में युगधर्म की स्थापना के निमित्त श्रीरामकृष्ण के शरीर-मन का आश्रय करके साधना की प्रबल आँधी चल रही थी। उनका असाधारण ईश्वरानुराग साधारण लोगों की दृष्टि में वायुरोग या पागलपन प्रतीत हुआ और इसका अतिरंजित विवरण कामारपुकुर तक पहुँच गया। चन्द्रमणि ने सुना कि गदाई उन्मादग्रस्त हो

गया है तथा मन्दिर में पूजा नहीं कर पाता। माँ के प्राण व्याकुल हो उठे और पत्र पर पत्र लिखकर उन्होंने अपने स्नेहनिधि को घर बुला लिया। वह सन् १८५८ ई. का आश्विन या कार्तिक मास था। उन्होंने सन्तान को ठीक करने के लिए चिकित्सा, शान्ति-स्वस्त्ययन, झाड़-फूँक आदि की व्यवस्था की तथा गाँव के अन्य लोगों की सलाह पर गदाई के विवाह के लिए उपयुक्त लड़की की खोज भी करने लगीं – परन्तु चोरी-छिपे, क्योंकि डर था गदाई कहीं भड़क न जाए! लड़की तो मिलती पर इतना धन कहाँ था? लड़की जितनी ही बड़ी तथा सुन्दरी मिलती, लड़कीवालों की माँग भी उतनी ही अधिक रहती। क्रमशः चन्द्रमणि देवी का मन गहन विषाद से पूर्ण हो उठा। अब क्या उपाय हो? वे लोग बड़े ही निर्धन थे।

यद्यपि सब कुछ अत्यन्त गोपनीय रूप से चल रहा था, परन्तु गदाई के लिए कुछ भी अज्ञात न था। एक दिन वह भावावेश में बोल उठा– "इधर-उधर ढूँढ़ना व्यर्थ है। जयरामवाटी में रामचन्द्र मुखर्जी के घर जाकर देखो। वहाँ पर मेरे लिए कन्या चिह्नित करके रखी हुई है।" इस सार्थक संकेत के बाद अब कन्या के निर्वाचन में देर न लगी। विवाह का शुभ दिन भी निश्चित हो गया। फिर १८५९ ई. मई के प्रारम्भ में निर्धारित दिन रामेश्वर अपने छोटे भाई रामकृष्ण को साथ लेकर जयरामवाटी के रामचन्द्र मुखोपाध्याय के घर पर जा पहुँचे। शुभमुहूर्त में श्रीसारदामणि के साथ श्रीरामकृष्ण का शुभविवाह सम्पन्न हुआ। इस सम्बन्ध में वरपक्ष ने कन्यापक्ष को दहेज के रूप में तीन सौ रुपये दिये। श्रीरामकृष्ण की आयु का तब चौबीसवाँ तथा सारदामणि का छठा वर्ष चल रहा था। आगे चलकर हम देखेंगे कि इस दिव्य विवाह का उनके जीवन में क्या तात्पर्य था। *

---

* यह विवाह उनके जीवन के एक अत्युच्च आध्यात्मिक पहलू का परिचायक है। इसके द्वारा उन्होंने विश्ववासियों के समक्ष एक अपूर्व उदाहरण रखा। सामान्य विवाहों के समान स्थूल सम्बन्ध न जोड़कर वे एक दिव्य दाम्पत्यजीवन का आदर्श स्थापित कर गये।

विवाह के कुछ दिन बाद ही श्रीरामकृष्ण दक्षिणेश्वर लौटकर पूजा में लग गये। इस बार वे लगभग डेढ़ वर्ष तक दक्षिणेश्वर में रहे। १८६० ई. के अग्रहायण मास में वे कामारपुकुर आये तथा वहाँ की प्रथा के अनुसार गौने के लिए जयरामवाटी गये। किसी-किसी के मत से श्रीरामकृष्ण इस बार विवाह के पूर्व से गौने तक, डेढ़ वर्ष से अधिक समय तक कामारपुकुर में रहे थे। बाद में इस घटना का स्मरण करते हुए श्रीसारदादेवी ने कहा था – "जब मैं सात वर्ष की थी तो ठाकुर जयरामवाटी को आये थे। विवाह के बाद गौना होता है न? उस समय उन्होंने मुझसे कहा था, 'यदि कोई तुमसे पूछे कि कितने वर्ष की आयु में विवाह हुआ, तो पाँच वर्ष बोलना, सात नही।' " उस समय की एक और घटना का उन्हें स्मरण होता था। ठाकुर के साथ आये हुए उनके भानजे हृदय कुछ कमल के फूल एकत्र कर लाये थे और अपनी छोटीसी मामी को ढूँढ़ निकालकर उनके अत्यन्त संकुचित होने पर भी उन कमलों से उनकी श्रीचरणपूजा की थी।

एक और घटना हुई थी – श्रीरामकृष्ण जब अपनी ससुराल जयरामवाटी गये थे, तब सारदामणि अपरिपक्व बुद्धि की बालिका मात्र थीं। किन्तु किसी के न सिखाने पर भी उन्होंने लोटे में पानी लाकर ठाकुर के पाँव धो दिये तथा अपने आँचल से पोंछने के बाद छोटे पंखे से हवा करने लगीं। इस पर पास-पड़ोस की महिलाओं का काफी मनोरंजन हुआ। नारीजाति का हृदय में जो पतिभक्ति निहित रहती है, उसी का आंशिक विकास बालिका सारदा के आचरण में देखने को मिलता है। जयरामवाटी से सपत्नीक पालकी में बैठकर श्रीरामकृष्ण कामारपुकुर गये तथा वहाँ थोड़े दिन बिताने के बाद ही दक्षिणेश्वर लौटकर पुनः साधना में मग्न हो गये। श्रीसारदादेवी भी जयरामवाटी लौट आयीं।

तेरह वर्ष की आयु में श्रीसारदादेवी जब पुनः कामारपुकुर आयी थीं, उस समय की एक दिव्य घटना का उन्होंने परवर्ती काल में वर्णन किया था। वे नयी नवेली बहू थीं, और जगह भी नयी थी, अतः गाँव

का रास्ता पार कर अकेले ही हालदारपुकुर नामक बड़े तालाब में स्नान को जाते उन्हें भय लगता था। पर दूसरा कोई उपाय भी नहीं था। दरवाजे से बाहर आकर वे सोचने लगीं –'नयी बहू होकर अकेले ही कैसे नहाने जाऊँ?' इतने में उन्होंने देखा कि लगभग उन्हीं की उम्र की आठ लड़कियाँ आ पहुँचीं। वे भी उनके साथ नहाने आयी थीं। श्रीसारदादेवी के चलने लगते ही उनमें से चार बालिकाएँ उनके आगे और चार पीछे चल पड़ी। बातचीत करते हुए वे उन्हें हालदारपुकुर तक ले गयीं और स्नान के बाद उन्हें घर तक पहुँचा गयीं। इस बार श्रीसारदादेवी जितने दिन कामारपुकुर में रहीं, प्रतिदिन ऐसा ही होता रहा। कई बार उनके मन में प्रश्न उठा कि ये लड़कियाँ कौन हैं, जो प्रतिदिन स्नान के समय आ जाती हैं? काफी दिनों बाद उन्हें पता चला कि वे बालिकाएँ उस गाँव की नहीं थीं। वे देवी की अष्टसखियाँ थीं, अष्टनायिकाएँ थीं, जो देवी को प्रतिक्षण उनके अनजाने ही घेरे रहती थीं।

इसके बाद श्रीसारदामणि चौदह वर्ष की आयु में दो बार कामारपुकुर गयीं। उस समय ठाकुर दक्षिणेश्वर में ही साधनामग्न थे। ससुराल में तब सारदादेवी के जेठ-जेठानी तथा अन्य सम्बन्धी थे, और उनकी सास दक्षिणेश्वर में गंगातट पर छोटे पुत्र गदाधर के साथ निवास कर रही थीं। उसी के पश्चात् १८६७ ई. में श्रीरामकृष्ण अपनी तन्त्रसाधना की गुरु भैरवी ब्राह्मणी तथा भानजे हृदय को साथ लेकर कामारपुकुर आये तथा श्रीसारदादेवी को भी बुलवाया। इस प्रसंग में उन्होंने बाद में कहा था– "तदुपरान्त जब ठाकुर ब्राह्मणी को साथ लेकर गाँव आये, तो मुझे संवाद भेजा, 'ब्राह्मणी आयी हैं, तुम चली आओ।' सन्देश पाकर मैं कामारपुकुर गयी।" उस समय उनको चौदहवाँ साल लगा था। उस बार ठाकुर के साथ चार-पाँच महीने निवास कर उन्होंने उनसे बहुत सी लौकिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त की।

श्रीरामकृष्ण ने एक ओर अपनी धर्मपत्नी के समक्ष अपना त्यागपूर्ण आदर्श जीवन रखते हुए उच्च धर्मजीवन की उपलब्धि के लिए आवश्यक चरित्रनिर्माण की शिक्षा दी; तथा दूसरी ओर वे दैनन्दिन गृहस्थी के कर्म, देव-द्विज-अतिथिसेवा, गुरुजनों के प्रति श्रद्धा, छोटों के प्रति स्नेहपरायणता, परिवार की सेवा में आत्मनियोग आदि अन्य अनेक विषयों में पत्नी को उपदेश दिया करते थे। 'जब जैसा तब तैसा, जिसको जैसा उसको वैसा'– इस नीति के आधार पर लोकव्यवहार कैसे किया जाए, परिवार में सभी की रुचि व आवश्यकता का ध्यान रखते हुए भावों का आदान-प्रदान किस प्रकार किया जाए, नाव या गाड़ी में सवार होते समय प्रत्येक वस्तु के प्रति सावधानी कैसे बरती जाए, दीपक में बत्ती कैसे लगायी जाए आदि कोई भी विषय छूटा न रहा। परन्तु इसके साथ ही वे सारदामणि को भजन, कीर्तन, ध्यान-धारणा, समाधि आदि विषयों तक का उपदेश प्रदान करते थे। उनकी शिक्षापद्धति अभिनव थी। पत्नी का मन भगवदभिमुख करने के लिए वे उनसे कहते –"जैसे चन्दामामा सभी बच्चों के मामा हैं, वैसे ही ईश्वर सभी के अपने हैं, सब को उन्हें पुकारने का अधिकार है। जो भी उन्हें पुकारेगा, उसी को वे दर्शन देकर कृतार्थ करेंगे। तुम पुकारो तो तुम्हें भी दर्शन प्राप्त होगा।" और ठाकुर केवल उपदेश देकर ही छोड़ देनेवालों में से नहीं थे, वे यह भी पता लगाते थे कि सारदादेवी इन बातों का अपने जीवन में कितना पालन करती हैं। श्रीसारदामणि इस स्वार्थहीन, नित्यजीवनोपयोगी, स्नेहमिश्रित पवित्र शिक्षा को पाकर कितनी आनन्दविभोर हो उठी थीं, इसका वर्णन उन्होंने परवर्ती काल में किया था – "उस समय से मुझे सर्वदा ऐसा अनुभव होता था मानो हृदय में आनन्द का पूर्णघट स्थापित कर दिया गया है। उस धीर स्थिर दिव्योल्लास से हृदय कैसा पूर्ण रहा करता था, यह कहकर समझाने की चीज नहीं है।"

श्रीरामकृष्ण अपनी सहधर्मिणी का स्वरूप जानते थे, इसीलिए उनके प्रति उनके लौकिक व्यवहार में भी एक वैशिष्ट्य दृष्टिगोचर होता है। ठाकुर कामारपुकुर में वहाँ के नर-नारियों के साथ काफी रात तक भावावेश में ईश्वरीय प्रसंग किया करते थे। सुनते हुए कभी-कभी सारदादेवी निद्रामग्न हो जाती थीं। इसे देखकर पास की महिलाएँ उन्हें यह कहते हुए जगाने लगतीं – "इतनी सुन्दर बातें नहीं सुनी – सो गयीं?" इस पर ठाकुर उन्हें मना करते हुए कहते, "नहीं जी, उसे मत जगाना। वह क्या जानबुझकर सोयी है? ये सब बातें सुनने पर वह यहाँ रह नहीं सकेगी; जोर से दौड़ती हुई चली जाएगी।" अर्थात् अपना स्वरूपतत्त्व जानने पर वे पूर्णतया अपने स्वरूप में लीन हो जाएँगी।

श्रीरामकृष्ण दक्षिणेश्वर लौटकर साधना के समुद्र में डूब गये। सारदामणि मातापिता के स्नेहबन्धन से खिंचकर जयरामवाटी चली आयीं। क्रमशः सुदीर्घ चार वर्ष निकल गये। मानो दीर्घ विस्मृति का परदा पड गया। सारदामणि के विरहआकुल प्राणों मे क्रन्दनध्वनि उठने लगी – 'वे कोई खोज-खबर नहीं लेते, आते भी नहीं, बुलाते भी नहीं। तो क्या वे मुझे भूल गये?'

३. दक्षिणेश्वर का संसार

धीरे धीरे गाँव में श्रीरामकृष्ण के बारे में तरह तरह की बातें फैलने लगीं। सुना गया कि वे पागल हो गये हैं, नंगे होकर कन्धे पर लम्बा सा लट्ठ लिये घूमते हैं, भिखारियों की जूठन खाते हैं, भंगियों की तरह टट्टी साफ करते हैं – और भी कितनी ही बातें! अब ग्रामवासियों की दृष्टि में सारदादेवी पागल की पत्नी हो गयीं। ये बातें सुनकर वे अत्यन्त मर्माहत हुईं। वेदना भरे हृदय से वे आकाश की ओर ताकते हुए ईश्वर के चरणों में नीरव प्रार्थना करतीं और सोचतीं – 'लोग जो कह रहे हैं, वह यदि सत्य हो तो? तब मेरा उनसे दूर रहना उचित नहीं हो रहा है।' वे निर्जन में आँसू बहाया करतीं।

फाल्गुन पूर्णिमा आसन्न थी। कई पड़ोसिनी महिलाएँ इस उपलक्ष्य में गंगास्नान को जा रही थीं। सारदामणि ने इसी को शुभ सुयोग माना और उनके संग स्नान को जाने की इच्छा व्यक्त की। पिता रामचन्द्र के कान तक यह संवाद पहुँचा। वे समझ गये कि सारदा क्यों गंगास्नान के लिए जाने को इच्छुक है। वे स्वयं ही पुत्री को साथ ले जाने को तैयार हुए।

शुभदिन देखकर सब ने यात्रा शुरू की। लगभग साठ मील का पैदल मार्ग था। दिन में सभी लोग चलते तथा रात को चट्टी में विश्राम करते थे। दो दिन बाद ही सारदामणि को भीषण बुखार चढ़ आया। विवश होकर पिता को पुत्री के साथ एक चट्टी में आश्रय लेना पड़ा। मार्ग में इस प्रकार अचानक ज्वराक्रान्त हो जाने के कारण अब सारदामणि दक्षिणेश्वर जाने के बारे में निराश हो उठीं। परन्तु उस मनोवेदना तथा शारीरिक कष्ट के बीच उन्हें एक अलौकिक दर्शन हुआ जिससे उनके प्राण शीतल हो गये।

परवर्ती काल में इसका वर्णन करते हुए उन्होंने कहा था –"बुखार में बिल्कुल अचेत होकर जब मैं चट्टी में पड़ी हुई थी, तो देखा कि एक

रमणी आकर मेरे निकट बैठ गयी। उसका रंग काला था, पर इतना सुन्दर रूप पहले कभी नहीं देखा था। बैठकर वह मेरे शरीर तथा मस्तक को सहलाने लगी। उसके हाथ इतने कोमल और शीतल थे कि देह की जलन बिल्कुल ही शान्त हो गयी। मैंने पूछा, 'तुम कहाँ से आयी हो?' रमणी ने उत्तर दिया, 'मैं दक्षिणेश्वर से आ रही हूँ।' यह सुनकर मैं विस्मित होकर बोली, 'दक्षिणेश्वर से? मैंने तो सोचा था, दक्षिणेश्वर जाऊँगी, उन्हें देखूँगी, उनकी सेवा करूँगी। परन्तु रास्ते में ही बुखार आ जाने से मेरे भाग्य में यह सम्भव नहीं हो पाया।' रमणी बोली, 'ऐसा क्यों? तुम दक्षिणेश्वर अवश्य जाओगी! तुम अच्छी होकर वहाँ जाओगी, उन्हें देखोगी। तुम्हारे लिए ही तो मैंने उन्हें वहाँ पर रोक रखा है।' मैंने कहा, 'सच! तुम हमारी कौन होती हो?' रमणी बोली, 'मैं तुम्हारी बहन लगती हूँ।' मैंने कहा, 'अच्छा! इसीलिए तुम आयी हो।' " इस प्रकार के वार्तालाप के पश्चात् वह रमणी अदृश्य हो गयी और श्रीसारदादेवी को नींद आ गयी। इस घटना से उनके वास्तविक स्वरूप के बारे में थोड़ा आभास मिलता है। स्वयं माँ काली ने ही दर्शन देकर उन्हें अपनी बहन कहा था। आगे चलकर अनेक लोगों ने समझा था कि श्रीसारदादेवी और माँ काली अभिन्न हैं।

दूसरे दिन प्रात:काल देखने में आया कि श्रीसारदामणि का बुखार उतर गया है तथा उस दिव्यदर्शन के फलस्वरूप उनके मन में काफी आनन्द एवं उत्साह भी आ गया है। वे अन्य यात्रियों के समान ही पिता के साथ आगे बढ़ने लगीं। थोड़ी दूर चलकर ही सौभाग्यवश एक पालकी मिल गयी। रास्ते में पुन: थोड़ासा बुखार आया परन्तु उन्होंने किसी से नहीं बताया। धीरे धीरे वह लम्बा रास्ता कट गया। रात को नौ बजे वे दक्षिणेश्वर पहुँच गये। वहाँ एक पड़ोसी को साथ लेकर वे सीधे श्रीरामकृष्ण के कमरे में गयीं। घूँघट काढ़े पत्नी को देखकर ठाकुर आनन्द के उच्छ्वास में बोले, "तुम

आ गयीं? अच्छा किया।" फिर निकट के आदमी से कहा, "चटाई बिछा दे रे।" ये दो वाक्य सुनते ही सारदादेवी के प्राण आनन्द से फूल उठे। हृदय के आवेग से आँखें सजल हो उठीं।

बुखार से पीड़ित अवस्था में पत्नी का आना सुनकर ठाकुर अत्यन्त चिन्तित हुए एवं खेदपूर्वक कहने लगे, "तुम इतने दिनों बाद आयीं! अब क्या मेरे सँझलेबाबू (मथुरबाबू) बचे हैं, जो तुम्हारी सेवा-शुश्रूषा होगी? मेरा तो दाहिना हाथ ही टूट चुका है।"

प्रथम दर्शन एवं वार्तालाप हो जाने पर जब श्रीसारदादेवी ने नौबतखाने में जाने की इच्छा व्यक्त की तो ठाकुर ने मना करते हुए कहा, "नहीं, नहीं, वहाँ डाक्टर को दिखाने में असुविधा होगी। इसी कमरे में रहो।" उनके तथा उनकी संगिनी के लिए अलग शय्या लगायी गयी। इस प्रकार ठाकुर की सेवा-शुश्रूषा तथा चिकित्सा आदि के फलस्वरूप वे तीन-चार दिनों में ही नीरोग होकर नौबतखाने में चली गयीं। अब उनके प्राण विह्वल हो उठे – 'अहा! उनमें कितनी स्नेह-ममता है, कितना आकर्षण है और कितनी गहरी आत्मीयता है!' वे समझ गयीं कि गाँव में जो बातें फैली हैं, उनमें सत्य का लेश तक नहीं है। वे सोचने लगीं – 'अहा! वे तो और भी प्रेममय हो गये हैं। मानो प्रेमरूपधारी भगवान् ही हों।' सारदादेवी ने आनन्दपूर्वक नौबतखाने में रहते हुए स्वयं को ठाकुर तथा उनकी माता की सेवा में न्यौछावर कर दिया।

दक्षिणेश्वर में प्रथम बार आगमन के बाद सारदादेवी ने क्रमशः आठ महीने तक ठाकुर के साथ एक ही शय्या पर शयन किया था। उन दिनों ठाकुर का मन जैसे एक अपूर्व दिव्य भावभूमि में विचरण करता रहता था, वैसे सारदादेवी का मन भी इष्टचिन्तन में ही निमग्न रहा करता था। पत्नी को इतने दिनों तक अपने पास रखकर भी ठाकुर को उनमें कणमात्र भी भोगेच्छा नहीं दिखाई पड़ी। इसीलिए बाद में इस पवित्रतास्वरूपिणी

की महिमा का बखान करते हुए उन्होंने भक्तों से कहा था, "वह (सारदा) यदि इतनी अच्छी न होती, तो फिर कौन कह सकता है कि मेरे संयम का बाँध टूटकर देहबोध आ जाता या नही?" लीला के लिए ठाकुर चाहे जो भी क्यों न कहें, पर हमें मालूम है कि पति-पत्नी दोनों ही एक-दूसरे के स्वरूप से पूर्णतया परिचित थे। इसीलिए सारदादेवी के बारे में ठाकुर की ऐसी उक्ति में लोककल्याण की दृष्टि से एक विशेष तात्पर्य है।*

दक्षिणेश्वर आने के कुछ दिन बाद ही ठाकुर ने पत्नी की परीक्षा लेने के लिए एक रात एकान्त में उनसे पूछा की "क्यों जी, क्या तुम मुझे संसारपथ में खींचने आयी हो?" श्रीसारदादेवी ने तनिक भी आगा-पीछा किये बिना तत्काल उत्तर दिया, "नहीं, मैं तुम्हें संसारपथ पर क्यों खींचने चली? मैं तुम्हारे अभीष्ट पथ में ही सहायता करने आयी हूँ।" इस प्रकार एक किशोरी का अपने साधकश्रेष्ठ पति से यह कहना कि 'अभीष्ट पथ में सहायता करने आयी हूँ' गूढ़ तात्पर्यपूर्ण है। इससे एक ओर तो श्रीसारदादेवी की अपने स्वरूप के प्रति सचेतनता व्यक्त होती है और दूसरी ओर यह वाणी सहधर्मिणी के रूप में प्रत्येक नारी का अपने पति के प्रति कर्तव्य की ओर भी संकेत करती है।

---

* श्रीरामकृष्ण को विवाहित जानकर एक बार तोतापुरीजी ने उनसे कहा था, "इससे कुछ नहीं बिगड़ता। पत्नी के पास रहने पर भी जिसका त्याग, विवेक, वैराग्य एवं विज्ञान सदा अक्षुण्ण बना रहता है, वही यथार्थ रूप से ब्रह्म में प्रतिष्ठित हुआ है। पुरुष तथा स्त्री दोनो को ही जो समान रीति से प्रतिक्षण आत्मा के रूप में देखता है तथा तदनुरूप व्यवहार भी करता है, उसी को यथार्थ ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ है। दूसरे लोग, जिनमें स्त्री-पुरुष के बीच भेददृष्टि है, साधक भले ही हों, किन्तु ब्रह्मज्ञान से बहुत दूर हैं।" हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि तोतापुरीजी की इस बात का स्मरण करके ही श्रीरामकृष्ण अपनी दीर्घकाल की साधना द्वारा प्राप्त ज्ञान की गहराई को परखने तथा अपनी पत्नी का कल्याणसाधन करने में अग्रसर हुए थे। और इस घटना के द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि श्रीरामकृष्ण ब्रह्मविज्ञान में पूर्ण प्रतिष्ठित हो गये थे।

इन्ही दिनों में एक रात श्रीसारदादेवी ने ठाकुर के पैर सहलाते हुए उनसे पूछा, "तुम मुझे किस दृष्टि से देखते हो?" ठाकुर ने तुरन्त उत्तर दिया, "जो माँ (काली) मन्दिर में विराजमान है, उसी ने इस शरीर को जन्म दिया है और अब नौबतखाने में निवास कर रही है, तथा वही इस समय मेरी पदसेवा कर रही है। सचमुच मैं तुम्हें सदैव साक्षात् आनन्दमयी के रूप में ही देखा करता हूँ।" इस दम्पति का एक दूसरे के प्रति यही दृष्टिकोण था।

४. षोडशीपूजा

श्रीसारदादेवी के दक्षिणेश्वर में लगभग दो मास बिताने के बाद ही श्रीरामकृष्ण ने उनकी जगदम्बा के त्रिपुरासुन्दरी या षोडशी रूप में पूजा की थी। उनकी सत्यदृष्टि के समक्ष मानो श्रीसारदादेवी का वास्तविक स्वरूप व्यक्त हो उठा था। ५ जून १८७२ ई. को अमावस्या के दिन फलहारिणी कालीपूजा थी। उस रात को ठाकुर के मन में श्रीसारदादेवी की षोडशी रूप में आराधना करने की इच्छा जगी। इस पूजा का आयोजन मन्दिर में न होकर ठाकुर के निर्देशानुसार उन्हीं के कमरे में हुआ।

ठाकुर के संकेत पर श्रीसारदादेवी रात को नौ बजे देवी के लिए निर्दिष्ट चित्रित पीठासन पर बैठीं और ठाकुर पूजा में लग गये। देवी के आसन पर बैठते ही श्रीसारदादेवी समाधि में डूब गयीं। उनके शरीर पर यथाविधि अंगन्यासादि करके ठाकुर ने उनकी साक्षात् देवीबुद्धि से षोडशोपचार से पूजा की। मन्त्रोच्चारण करते हुए वे भी समाधिमग्न हो गये। इस प्रकार पूजक और पूजिता दोनों हीं आत्मस्वरूप में पहुँचकर पूर्ण एकात्म हो गये।

इस अवस्था में आधी रात बीत जाने पर आत्माराम ठाकुर समाधि से अर्धबाह्य अवस्था को प्राप्त हुए। उस अर्धचेतन अवस्था में उन्होंने देवी को आत्मनिवेदन किया तथा अपनी समस्त साधनाओं का फल एवं जपमाला आदि सर्वस्व सदा-सर्वदा के लिए उन्हें अर्पित करते हुए प्रणत हो गये। श्रीसारदादेवी ने भावराज्य में आरूढ़ हो उनकी पूजा तथा समस्त साधनाओं का फल स्वीकार किया।

षोडशीपूजा के बाद पाँच-छह महीने तक श्रीसारदादेवी ठाकुर के साथ एक ही बिस्तर पर शयन किया करती थीं। उन दिनों ठाकुर सारी रात एक अपूर्व दिव्यभाव में रहा करते थे – कभी हँसते, कभी रोते तो

कभी समाधि में स्थिर हो जाते। यह सब देखकर श्रीसारदादेवी अत्यन्त भयभीत हो जातीं तथा सारी रात सो नहीं पाती थीं। ठाकुर को इस बात का पता चलने पर उन्होंने श्रीसारदादेवी की अलग नौबतखाने में सोने की व्यवस्था करवा दी। उनके दाम्पत्यजीवन की यही परिपूर्णता है। तथापि सहधर्मिणी के रूप में लीलामयी की लीला अत्यन्त माधुर्यमय है। वे क्षमा-लज्जा-तुष्टि-शान्तिरूपिणी देवी त्यागमूर्ति शिवस्वरूप पति की सेवा में पूर्ण आनन्दपूर्वक कितनी तत्पर हैं।

श्रीरामकृष्ण ने सारदादेवी की पूजा की थी। वे तो मिट्टी की शिवमूर्ति बनाकर भी पूजा किया करते थे, मृण्मय में चिन्मय का प्रकाश देखते थे। नारीमात्र ही उनकी पूजा की वस्तु रही है। अतः उनकी यह षोडशीपूजा एक अलग ही प्रकार की प्रतीत होती है।

इस पूजा के माध्यम से उन्होंने न केवल श्रीसारदादेवी के दिव्य मातृत्व को प्रबोधित किया, अपितु सम्पूर्ण नारीजाति को सर्वोच्च मर्यादा, महत्तम गरिमा प्रदान की। "या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता। नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥" इस मन्त्र का सार्थक उच्चारण किया।



श्रीसारदादेवी जिस समय दक्षिणेश्वर आयीं, तब उन्होंने यौवन में पदार्पण मात्र किया था। श्रीरामकृष्ण और श्रीसारदादेवी लौकिक दृष्टि से पति-पत्नी थे, परन्तु यह तो बाह्य परिचय मात्र था। एक दिन भानजे हृदयराम ने थोड़ा विनोद करने के लिए मामी से कहा, "सभी तो मामा को बाबा (पिता) कहते हैं। तुम भी उन्हें बाबा कहकर पुकार सकती हो?" श्रीसारदादेवी ने अत्यन्त सहज भाव से उत्तर दिया, "बाबा ही क्यों कहते हो हृदू? वे तो मेरे बाबा माँ सभी कुछ हैं।" किसी दूसरे समय एक भक्त के पूछने पर उन्होंने कहा था, "मैं उन्हें सन्तानभाव से देखती हूँ।" उनके

आपसी सम्बन्ध के बारे में एक बार श्रीरामकृष्णदेव ने कहा था, "हम दोनों ही जगदम्बा की सखियाँ हैं।" श्रीसारदादेवी श्रीरामकृष्ण को सभी सम्बन्धों की घनीभूत मूर्ति तथा आराध्यदेव के रूप में देखती थीं।

श्रीरामकृष्णदेव की क्रमिक साधना का काफी विवरण हमें ज्ञात है, परन्तु श्रीसारदादेवी की अधिकांश साधना लोकदृष्टि से परे हुई है। श्रीसारदादेवी के बाल्यकाल में किसी आध्यात्मिक अनुभूति या भावसमाधि होने की बात सुनने में नहीं आती। सर्वप्रथम हम उन्हें दक्षिणेश्वर में षोडशीपूजा की रात को ही समाधिमग्न देखते हैं। मानो उसी रात को उनके आध्यात्मिक विकास का श्रीगणेश हुआ। उसके बाद से वे गृहकर्म के साथ ही साथ अत्यन्त निष्ठापूर्वक नियमित रूप से साधन-भजन किया करती थीं। बहुत दिनों तक तो वे एक लाख जप पूरा किये बिना जल तक ग्रहण नहीं करती थीं। रात पर रात महामौन के ध्यान में जगी रहती थीं। श्रीसारदादेवी के परवर्ती काल के वार्तालाप में इसका किंचित् आभास मिलता है– "वे दिन क्या ही बीते हैं! उजियारी रात में चन्द्रमा की ओर हाथ जोड़कर ताकती हुई कहा करती थी, 'मुझे भी अपनी इस चाँदनी के ही समान निर्मल बना दो।" वे रो-रोकर प्रार्थना किया करतीं – "चन्द्रमा में भी कलंक है, पर हे प्रभो, मुझमें कोई भी दाग न रहे।" उन्होंने और भी कहा था –"अपनी बात क्या कहूँ बेटी, उन दिनों दक्षिणेश्वर में मैं रात को तीन बजे उठ बैठती थी। कोई होश नहीं रहता था। एक दिन चाँदनी रात में नौबतखाने की सीढ़ी के पास बैठकर जप कर रही थी। चारों ओर निःस्तब्धता छायी हुई थी। उस दिन ठाकुर शौच के लिए झाऊतले की ओर कब गये, कुछ जान न सकी। और दिन उनके जूते की आवाज सुनकर जान जाती थी। ध्यान अच्छा जम गया था। उन दिनों मैं दूसरे ही तरह की दिखती थी। गहने तथा लाल किनारे की साड़ी पहने थी। शरीर से आँचल खिसककर हवा से उड़ा जा रहा था। तनिक भी होश नहीं था। ... दक्षिणेश्वर में रात में वंशी बजा करती थी। उसे सुनकर

मन व्याकुल हो उठता था। लगता था मानो साक्षात् भगवान ही वंशी बजा रहे हों। और इसके साथ ही समाधि लग जाती थी।"

इतनी सहजता से समाधि लग जाया करती थी, फिर भी उस समाधि की बाह्य अभिव्यक्ति बहुत ही कम दीख पड़ती थी। माताजी की इस सहज समाधि के प्रसंग में श्रीरामकृष्ण के एक प्रमुख पार्षद स्वामी प्रेमानन्द ने एक बार कहा था – "वे शक्तिस्वरूपिणी हैं न! उनमें भाव छिपा रखने की क्षमता कितनी है! ठाकुर कोशिश करके भी छिपा नहीं पाते थे, बाहर निकल ही पड़ता था। (इधर) माताजी को भी भावसमाधि होती है, पर वे भला किसे जानने देती हैं?" उनकी अत्यन्त आसानी से स्वरूप में स्थिती हो जाती थी तथा नित्य एवं लीला के बीच सहज रूप में आवागमन चलता था। इस समाधि-अवस्था की उपलब्धि उन्होंने पहाड़ पर्वत में जाकर साधना के द्वारा नहीं की थी। उनके जीवन में गृहस्थी के कर्म तथा दिव्य – स्वरूप में अवस्थान दोनों ही अनन्याश्रित रूप से साथ-साथ चलते रहे थे। दक्षिणेश्वर में माताजी का अधिकांश समय ठाकुर तथा भक्तों के लिए भोजन आदि पकाने तथा अन्य सेवाकार्य करने में ही बीतता था, परन्तु इन विविध क्रियाकलापों के बीच भी वे प्रतिदिन अत्यन्त निष्ठापूर्वक एक लाख जप पूरा कर लिया करती थीं।

एक बार माताजी ने भावसमाधि की प्रार्थना लेकर योगीन-माँ को ठाकुर के पास भेजा। ठाकुर प्रात:काल कमरे में एकाकी तख्त के ऊपर बैठे थे। योगीन-माँ ने उन्हें प्रणाम करके माताजी की प्रार्थना निवेदित की। ठाकुर ने सब कुछ सुना, पर कोई उत्तर न देकर गम्भीर बने बैठे रहे। थोड़ी देर बाद योगीन-माँ नौबतखाने में लौट आयीं। माताजी पूजा में बैठी थीं। योगीन-माँ ने दरवाजा थोड़ासा खोलकर देखा कि माँ खूब हँस रही हैं। फिर थोड़ी ही देर में वे खूब रोने लगीं– दोनों आँखों से आँसुओं की धारा बह चली। थोड़ी देर उसी भाव में स्थिर रहकर धीरे–धीरे व गहन समाधि में डूब गयीं। काफी देर बाद माँ को सामान्य अवस्था में लौटी हुई देखकर

योगीन-माँ ने उनके कमरे में प्रवेश कर कहा, "क्यों माँ, तुम्हारे तो भाव ही नहीं होता!" इस पर माताजी संकुचित होकर हँसने लगीं।

जीवन के अन्तिम काल में माताजी रात में जागकर जो जप किया करती थीं, वह आश्रित सन्तानों के मंगल के लिए था। उन्होंने कहा था, "बेटा, मेरे बच्चों में से कौन क्या कर रहा है, नहीं कर रहा है, पता नहीं। उनके लिए मैं थोड़ासा कर लेती हूँ।" वस्तुत: माताजी के जीवन की सारी साधना एवं तपस्या जनकल्याण के लिए ही अनुष्ठित हुई थी। एक बार उन्होंने बताया था कि (भक्तों के) पाप ग्रहण कर लेने के फलस्वरूप ही उनके पावों में भीषण वात का प्रकोप है। बाद में उन्होंने अत्यन्त आवेगपूर्वक कहा था, "हम लोग पाप-ताप न लें तो कौन लेगा? इसी के लिए तो हम आये हैं।" उन्होंने अन्यत्र भी कहा है, "क्यों जी! ठाकुर क्या सिर्फ रसगुल्ले ही खाने को आये थे?" कितनी अपूर्व है उनकी यह उदारता! सचमुच वे जीवोद्धार के लिए ही जगत् में आये थे।



माताजी सर्वप्रथम १८७२ ई. में दक्षिणेश्वर आयीं। तब से १८८६ ई. में ठाकुर की महासमाधि तक के सुदीर्घ पन्द्रह वर्षों को माताजी का साधनाकाल कहा जा सकता है। उस समय उनकी सब से बड़ी साधना थी – ठाकुर की सेवा। इस सेवा के माध्यम से ही उनके दाम्पत्य जीवन में परिपूर्णता आयी थी। श्रीसारदादेवी के जीवन से जगत् ने यह भी जाना की प्रत्येक नारी ब्रह्मदृष्टि से पतिसेवा के द्वारा अपना जीवन धन्य कर सकती है। उनकी इस पतिसेवारूपी साधना ने मानो बाद में वृन्दावन तथा बेलुड़ में अनुष्ठित पंचतपा आदि साधनाओं को भी फीका कर दिया था। माताजी, जो इस जगत् में विश्वमातृत्व के विकास के लिए अवतरित हुई थीं, इस काल में हमें एक आदर्श पत्नी के रूप में दिखाई देती हैं। श्रीरामकृष्ण और श्रीसारदादेवी का दाम्पत्य जीवन यह आदर्श भी प्रस्तुत

करता है कि संसार में पति-पत्नी को आपस में कैसा व्यवहार करना चाहिए।

श्रीसारदादेवी दक्षिणेश्वर मन्दिर के एक बन्द कमरे में निवास किया करती थीं। नित्यसिद्धा देवी, लोकदृष्टि से गुप्त रहकर ठाकुर की सेवा में निरत रहती थीं। बाद में उन्होंने आनन्दपूर्वक भक्तों की सेवा का भार भी ग्रहण कर लिया था। प्रतिदिन उन्हें तीन-साढ़ेतीन सेर आटे की रोटियाँ बनानी पड़ती थीं। तथापि इसके साथ ही साथ उनका जप-ध्यान भी चलता रहता थां। एक बार उन्होंने अपने बारे में कहा था – "तो क्या मेरा सब कुछ अलौकिक ही है? अशान्ति तो कभी देखने में नहीं आयी और इष्टदर्शन तो हाथ की मुठ्ठी में ही है – बैठते ही दर्शन होता है! दक्षिणेश्वर का नौबतखाना देखा है न? उसी में मैं रहा करती थी। शुरू-शुरू में कोठरी में घुसते समय सिर टकरा जाता था। एक दिन तो सिर फूट ही गया। बाद में आदत पड़ गयी। दरवाजे के सामने पहुँचते ही सिर झुक जाता था। कलकत्ते से मोटी-मोटी महिलाएँ मिलने के लिए आतीं और दरवाजे के दोनों ओर हाथ रखे खड़ी होकर कहती, 'आह! देखो तो, हमारी सती लक्ष्मी कैसी कोठरी में रहती हैं– मानो बनवास है'।" बन्द स्थान में रहते रहते उनके पाँव में वात रोग का सूत्रपात हुआ, जिससे उन्हें शेष जीवन में काफी कष्ट उठाना पड़ा था।

यद्यपि उनका शरीर नौबतखाने में निवास कर रहा था, तथापि उनका सम्पूर्ण मन-प्राण, समस्त इन्द्रियाँ, सम्पूर्ण चेतना मानो ठाकुर के आसपास ही चक्कर लगाया करती थीं। श्रीसारदादेवी ने आगे चलकर बताया था, "नौबतखाने में हजारों कार्यों के बीच व्यस्त रहने पर भी मेरा मन सर्वदा ठाकुर के ही निकट पड़ा रहता था। उनके इतनी दूरी पर धीमे स्वर में बातें करने पर भी मैं सुन पाती थी।"

रातदिन निरन्तर ठाकुर का चिन्तन तथा अभेदबुद्धि से उनकी सेवा

चलती थी। उस सेवा के माध्यम से दोनों का नित्य मिलन होता था और साधना के माध्यम से अभेद ज्ञान। माताजी ने बाद के दिनों में अपना शरीर दिखाते हुए कहा था, "इसमें ठाकुर सूक्ष्म रूप में विद्यमान हैं। ठाकुर ने अपने ही श्रीमुख से कहा था कि मैं तुम्हारे भीतर सूक्ष्म देह में रहूँगा।"...

क्रमशः भक्तसमागम बढ़ने लगा। श्रीसारदादेवी सेवा के द्वारा जिस प्रकार ठाकुर को आनन्द एवं तृप्ति प्रदान किया करती थीं, उसी प्रकार परदे की ओट में अदृश्य रहकर भी भक्तों के प्रति उनकी स्नेहदृष्टि बनी रहती थी। यथाक्रम वे 'भक्तजननी' हुईं। भक्त ठाकुर के आकर्षण से आते और उनसे आध्यात्मिक चेतना की उपलब्धि करते। परन्तु इसके साथ ही उन्हें नौबतखाने से भी ऐसा कुछ प्राप्त होने लगा कि उन्होंने 'नौबतवासिनी' के दैवीमातृत्व को स्वीकार लिया। तब से मानो माताजी धीरे-धीरे अपने आपको अभिव्यक्त करने लगीं। मानो वे अब शिव के बगल में पार्वती के रूप में जा उपस्थित हुईं।



श्रीरामकृष्ण श्रीसारदादेवी के स्वरूप से अवगत थे। उन्होंने कहा था, "वह सारदा है– सरस्वती है। ज्ञान प्रदान करने को आयी है। ... रूप रहने पर कहीं अशुद्ध मन से देखनेवालों का अमंगल न हो, इसीलिए इस बार रूप ढँककर आना हुआ है।" एक दूसरे समय उन्होंने कहा था, "वह ज्ञानदायिनी है, महाबुद्धिमती है। वह क्या ऐसी-वैसी है! वह मेरी शक्ति है।" फिर ठाकुर ने अपने भानजे हृदयराम से कहा था, "अरे, उसका नाम सारदा है, वह सरस्वती है, इसीलिए सजना-सँवरना पसन्द करती है।" एक बार और उन्होंने माताजी के प्रति विनोद करते हुए कहा था, "वह राख से ढ़ँकी हुई बिल्ली है।" अर्थात् जैसे बिल्ली के शरीर का रंग राख से मिलकर एक हो जाने के कारण वह लोगों की दृष्टि में नहीं आती, वैसे ही दैनन्दिन साधारण कार्यों में लगी हुई माताजी की महिमा जनसाधारण की दृष्टि में अज्ञात है।

माताजी के चारित्रिक वैशिष्ट्य के बारे में श्रीरामकृष्ण के एक ईश्वरकोटि पार्षद स्वामी प्रेमानन्द ने एक पत्र में लिखा था –"श्रीमाताजी को भला कौन समझ सका है? ऐश्वर्य का लेश तक नहीं है। ठाकुर में फिर भी विद्या का ऐश्वर्य था; परन्तु माँ में? – उनमें तो विद्या तक का ऐश्वर्य नहीं है। यह कौनसी महाशक्ति है! जय माँ! जय माँ!! जय शक्तिमयी माँ!!! जो विष हम स्वयं नहीं हजम कर पाते हैं, वह सब माँ के पास चालान कर देते हैं। माँ सब को गोद में उठा लेती हैं। अनन्त शक्ति, अपार करूणा! जय माँ! हम अपनी क्या कहें – स्वयं ठाकुर को भी ऐसा करते नहीं देखा। वे कितना ठोक-बजाकर, चुन-बीनकर लोगों को स्वीकारते थे। और यहाँ, माँ के पास क्या देखते हो? अद्‌भुत! अद्‌भुत! सभी को आश्रय दे रही हैं, सभी की चीजें खा रही हैं, और सब हजम हो जाता है! माँ ! माँ! जय माँ!!"

आचार्य स्वामी विवेकानन्द ने भी अपने एक गुरुभाई को लिखा था –"दादा, जीवन्त दुर्गा न दिखाया तो मेरा नाम नहीं। नाराज मत होना, पर तुम लोगों ने अभी तक माँ को नहीं समझा है, माँ की कृपा मेरे लिए बाप से भी लाखगुना बड़ी है।... माँ के बारे में मैं थोड़ा कट्टर हूँ। ... माँ की बात स्मरण हो आने पर बीच-बीच में कहता हूँ, 'को रामः?' भाई, मैंने जो कहा, वहीं पर मेरी कट्टरता है। रामकृष्ण परमहंस ईश्वर थे अथवा मनुष्य – चाहे जो कह लो – परन्तु जिसकी माँ के प्रति भक्ति नहीं, उसे धिक्कार है।"

५. दैवीभाव का विकास

माताजी के जीवन में दिव्यशक्ति के विकास का सूत्रपात दक्षिणेश्वर में ही देखने को मिल जाता है। एक बार एक भक्त महिला अपने परिवार की किसी महान् विपत्ति के निवारणार्थ कोई मन्त्र या औषधि के लिए ठाकुर को पकड़े बैठी थी। ठाकुर ने उसे नौबतखाने की ओर दिखाते हुए कहा – "मै भला क्या जानता हूँ? वे मुझसे भी ऊपर हैं। उन्हें जाकर बताओ तो तुम्हारी कामना पूर्ण हो जाएगी।"

माताजी किसी भी तरह राजी न होकर उस महिला को बारम्बार ठाकुर के पास ही भेज रही थीं, परन्तु ठाकुर भी छोड़नेवाले नहीं थे। अन्त में हार मानकर माताजी को ही उसकी व्यवस्था करनी पड़ी। उन्होंने उसे एक बिल्वपत्र देते हुए कहा – "इसे घर ले जाओ, तुम्हारी कामना पूर्ण होगी।"



धीरे-धीरे त्यागी भक्तों में से कोई-कोई नियमित रूप से दक्षिणेश्वर में ही निवास करने लगे। ठाकुर अत्यन्त सावधानीपूर्वक उन्हें त्यागपथ पर परिचालित कर रहे थे। उन लोगों के आहार-विहार, साधन-भजन सभी ओर उनकी सतर्क दृष्टि रहा करती थी। वे नौबतखाने में जाकर इतना तक कह आते थे कि लड़कों में कौन कितनी रोटियाँ खाएगा? अधिक खा लेने से कहीं साधन-भजन में बाधा न पहुँचे इसीलिए वे इतनी सावधानी बरता करते थे।

बाबूराम के लिए चार तथा राखाल के लिए छह रोटियाँ निर्धारित थीं। इसी प्रकार दूसरे लोगों की खुराक भी निर्दिष्ट थी। उन लोगों के नौबतखाने से भोजन के बाद लौटने पर ठाकुर कभी-कभी पूछा करते कि किसने कितना खाया। एक दिन राखाल से पूछने पर पता चला कि उन्होंने

सात रोटियाँ खायी हैं। सुनकर ठाकुर गम्भीर हो गये, क्योंकि उनके लिए छह रोटियाँ ही निश्चित थीं। एक दूसरे दिन उन्होंने बाबूराम से पूछा, "कितनी रोटियाँ खायी हैं?" बाबूराम बोले, "छह।" ठाकुर गम्भीरतापूर्वक बोले, "इतना अधिक क्यों खाया?" बाबूराम –"माँ ने खिला दिया।" सुनकर ठाकुर कुछ विचलित से हो गये। चट्टी पहनकर तुरन्त ही नौबतखाने में जा पहुँचे तथा शिकायत के स्वर में बोले, "तुम इन लड़कों को मनुष्य नहीं होने दोगी। ये साधु होने आये हैं। इनके इस उम्र में इतना खाने से कैसे काम चलेगा?"

बच्चों के खाने के बारे में आक्षेप सुनकर माँ के हृदय को कुछ आघात पहुँचा। वेदनापूर्ण कण्ठ से वे बोलीं, "एक दिन दो रोटियाँ अधिक दें दीं तो इतनी बातें!... मैं स्वयं ही उनकी देखभाल कर लूँगी। ... उनका भविष्य मैं देखूँगी, इसके लिए तुम्हें चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। खाने-पीने के बारे में तुम बच्चों से कुछ न कहो।" माताजी के मुख से ये बातें सुनकर उसके ऊपर बिना कुछ कहे, मन ही मन सर्वजयी मातृत्वशक्ति के प्रति सम्मान दिखा, मृदु हास्य के साथ, ठाकुर अपने कमरे में चले आए। माताजी को स्वेच्छापूर्वक ही अपने भावी कर्मक्षेत्र में प्रवेश करते देख ठाकुर विशेष आनन्दित हुए थे।

एक दिन योगीन-माँ ने देखा कि माताजी ने कुछ पान तो सिर्फ चूना और सुपारी डालकर लगाये तथा कुछ अच्छी तरह मसाले आदि डालकर लगाये। इस पर वे माँ से पूछ बैठीं – "इनमें तो मसाला, इलायची आदि नहीं दिया? वे किसके लिए हैं और ये किसके लिए हैं?" उत्तर मिला, "योगेन, ये (अच्छेवाले) भक्तों के लिए हैं – उन्हें स्नेह-यत्न के द्वारा अपना बनाना है। वे उनके (ठाकुर के) लिए हैं – वे तो अपने हैं ही।"

श्रीरामकृष्णदेव के पास से भक्तों को बहुत कुछ मिला था। भावसमाधि, निर्विकल्प समाधि, धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप चतुर्वर्ग फल

प्राप्त हुआ था। जिसे जो आवश्यक था, उसे वही उन्होंने उदारतापूर्वक दिया। परन्तु माताजी के पास से उन्हें ऐसा क्या मिला था, जिसके कारण उन्होंने इस प्रकार आत्मसमर्पण किया? माताजी का इस बार रूप ढ़ककर आगमन हुआ था, लिखना-पढ़ना वे अल्प ही जानती थीं। दो-एक त्यागी सन्तानों को छोड़कर किसी के साथ वे प्रत्यक्ष रीति से बात तक नहीं करती थीं। फिर भी उनको माताजी के भीतर ऐसा क्या दिखाई दिया था जिसके फलस्वरूप उन लोगों ने उन्हें जगदम्बा का जीवन्त रूप मान लिया? माताजी उनके सिर पर हाथ रखकर थोड़ासा आशीर्वाद देतीं तो वे लोग अपने आपको धन्य धन्य मानते थे!...

माताजी का दक्षिणेश्वर का जीवन अत्यन्त माधुर्यपूर्ण था। देवमानव ठाकुर की सेवा के साथ ही साथ, अविच्छिन्न धारा के रूप में साधन-भजन भी चल रहा था। इधर ठाकुर का कमरा सारे समय भक्तसंगम, ईश्वरीय प्रसंग, नृत्य-गीत, भावसमाधि आदि से ओतप्रोत है। कभी उच्च स्वर में कीर्तन हो रहा है – हरिनाम की टेर लगी हुई है और ठाकुर उन्मत्त होकर हुंकार भरते हुए अलौकिक नृत्य कर रहे हैं। कोई हँस रहा है तो कोई रो रहा है, कोई नाच रहा है तो कोई गा रहा है। माताजी नौबतखाने के बरामदे में खड़ी होकर परदे के छिद्र से अतृप्त नेत्रों से इस प्रेमलीला का दर्शन कर आनन्द से ओतप्रोत हो रही हैं। इस दिव्य तन्मयता में दिन-रात कैसे बीत जाते कुछ पता नहीं चलता। प्रतिक्षण मानो वे एक जगदतीत सत्ता में निवास कर रही थीं।

ठाकुर को पेट की बीमारी थी, अत: उन्हें हर प्रकार का भोज़न नहीं चलता था। माताजी अत्यन्त सावधानीपूर्वक उनके पेट के अनुकूल भोजन पकातीं तथा उनके सामने बैठकर उन्हें तरह-तरह की बातों में भुलाते हुए खिलाया करती थीं। ठाकुर के मन की स्वाभाविक गति ही ऊर्ध्वभूमि की और थी। थोड़ा भी ईश्वरीय प्रसंग होने पर वे पूर्णरूप से

भावसमाधि में डूब जाते थे। उस समय उन्हें खाने-पीने तक की सुध नहीं रह जाती थी। तब माताजी मानो बलपूर्वक उनके मन को जीवभूमि पर खींच रखती थीं।

नौबतखाने के उस बद्ध स्थान में रहते रहते माताजी का स्वास्थ्य भग्न हो गया। यह देखकर श्रीरामकृष्ण के एक रसददार सेवक भक्त शम्भुबाबू ने मन्दिर के बाहर जमीन खरीदकर एक मकान बनवा दिया, जिसके निर्माणार्थ आवश्यक लकड़ी भक्त विश्वनाथ उपाध्याय (कप्तान) ने दी थी। इनमें से एक शहतीर गंगा के ज्वार में बह गया। इस पर हृदयराम ने माताजी को "तुम्हारा भाग्य खोटा है" इत्यादी कहते हुए कुछ कटु बातें सुनायीं। ठाकुर के कानों में जब ये बातें पड़ीं तब उन्होंने हृदय को सावधान करते हुए कहा, "देख हृदू, मेरे प्रति तू जो भी अपराध करेगा, उसकी माफी है; परन्तु उसके भीतर जो है, वह यदि एक बार भी फुफकार करे, तो ब्रह्मा, विष्णु भी तेरी रक्षा नहीं कर सकेंगे।"

माताजी हाथों की बड़ी उदार थीं। वे सर्वदा ही लोगों को खिलाना, पिलाना, देना, आदर-आतिथ्य करना आदि पसन्द करती थीं। एक दिन दक्षिणेश्वर में ठाकुर के लिए बहुतसे फल और मिठाइयाँ आयी हुई थीं। माताजी ने सब कुछ पास-पड़ोस के बच्चों में बाँट दिया। सुनकर ठाकुर थोड़ा असन्तोष व्यक्त करते हुए बोले, "इतना खर्च करने पर कैसे काम चलेगा?" यह बात सुनकर माताजी बिना कुछ कहे कुछ मान करके चली गयीं। माताजी को इस प्रकार मुँह फिराकर चली जाते देख ठाकुर ने अत्यन्त विचलित हो, रामलाल को पुकारकर कहा, "अरे रामलाल, जल्दी जाकर अपनी चाची को मना ले। उसके रूठने पर (अपनी ओर संकेत कर) इसका सब कुछ बिगड़ जाएगा।"

वस्तुत: इस देव-दम्पति के बीच जो दिव्य सम्बन्ध था वह बड़ा अद्‌भुत था। ठाकुर के प्रति माताजी का जो आकर्षण था, माताजी के

प्रति ठाकुर का आकर्षण उससे किसी अंश में कम नहीं था। गौरी-माँ ने एक बार कहा था, "दोनों के बीच केवल पचास हाथ की ही दूरी रहने पर भी कभी-कभी शायद दो महीने तक एक दूसरे से भेंट नहीं होती थी। फिर भी उनमें परस्पर कितना प्रेम था। एक बार माताजी के सिर में दर्द होने पर ठाकुर बड़े ही उद्विग्न हो उठे और बार-बार रामलालदादा से पूछने लगे, 'अरे रामलाल, सिर में दर्द क्यों हुआ रे?' "

ठाकुर के मन में यह विचार भी उठा करता था कि उनके देहत्याग के पश्चात् माताजी का भरण-पोषण कैसे होगा। इतने त्यागनिष्ठ होने पर भी एक दिन उन्होंने माताजी से पूछा, "कितने रुपये होने से तुम्हारा खर्च चल सकेगा?" अत्यन्त संकोचपूर्वक माताजी ने कहा, "यही कोई पाँच-छह रुपये में चल जाएगा।" फिर ठाकुर ने पुछा, "रात में कितनी रोटियाँ खाती हो?" माताजी तो लज्जा से धरती में गड़ गयीं। खाने की बात भला कैसे कहें! इधर ठाकुर के पूछने का भी अन्त नहीं। माताजी ने बताया, "यही कोई पाँच-छह रोटियाँ खाती हूँ।" ठाकुर ने खर्च का हिसाब लगाकर कहा, "तो पाँच-छह सौ रुपये तुम्हारे लिए काफी होंगे।" बाद में उन्होंने उतने रुपये बलरामबाबू के पास जमा कर दिये।

नारीमात्र को ही जगदम्बा के रूप में देखनेवाले ठाकुर माताजी को कितने सम्मान की दृष्टि से देखते थे! इस सम्बन्ध में एक दिन उन्होंने भक्तों को बताया था कि माताजी के उनके पाँव दबाने के पश्चात् वे भी उनको नमस्कार किया करते हैं। माताजी को सर्वदा सम्मान की दृष्टि से देखने के साथ ही साथ उन्हें लोकव्यवहार तथा साधन-भजनविषयक शिक्षा देने का भार भी ठाकुर ने अपने ऊपर ले लिया था। माताजी को वे सर्वदा कर्म में व्यस्त रखा करते थे। कहते थे – "कर्म करना चाहिए, बैठे नहीं रहना चाहिए। खाली बैठे रहने से मन में तरह तरह के बुरे विचार आते हैं।"

एक दिन की घटना को परवर्ती काल में माताजी ने आमोदपूर्वक बतलाया था – "ठाकुर ने थोड़ासा पटसन लाकर मुझे दिया और कहा, 'इससे मेरे लिए एक छीका बना दो, मैं उसमें लड़कों के लिए पूरी-मिठाई आदि रखूँगा।' मैंने छीका बना दिया और बचे हुए रेशों को एक कपड़े में लपेटकर तकिया बना लिया। टाट के ऊपर चटाई बिछाती थी और वही तकिया सिर के नीचे लगाती थी। तब वैसे सोकर जैसी नींद आती थी, अब इन खाट-बिछौने पर सोकर भी वैसी ही नींद आती है – कोई अन्तर नहीं मालूम होता, बेटी।" सात्त्विक जीवन का यह कितना सुन्दर चित्र है!

कामारपुकुर में रहते समय माताजी ने उत्तर भारत के किसी वृद्ध संन्यासी से शक्ति-मन्त्र की दीक्षा ली थी। ठाकुर को भी यह घटना विदित थी और उन्होंने इस विषय में कोई भी आपत्ति नहीं की थी। उसी मन्त्र को परिपूर्ण तथा और भी शक्तिशाली कर देने के लिए माताजी के दक्षिणेश्वर निवासकाल में एक दिन ठाकुर ने उनकी जिह्वा पर कुछ लिख दिया था।

दक्षिणेश्वर में ठाकुर के चरणों में आने के पूर्व माताजी को रोग दूर करने का एक मन्त्र मिला था। ठाकुर को जब इसका पता चला तो उन्होंने माताजी से कहा कि उस मन्त्र का उपयोग न कर उसे वे इष्टचरणों में सौंप दें जिससे वे अपने मन को पूरी तरह अध्यात्म के क्षेत्र में दे सकें। योगीन-माँ ने भी वह रोग दूर करनेवाला मन्त्र लिया था। एक दिन ठाकुर अचानक बोले, "अजी, मेरे गले में पीड़ा हो रही है। तुम उसे ठीक करने का जो मन्त्र जानती हो उसे पढ़कर एक बार हाथ फिरा दो न!" योगीन-माँ ने ठाकुर के आदेश का पालन किया। फिर वे माताजी के पास आकर बोली, "मैं यह मन्त्र जानती हूँ, यह बात वे कैसे जान गये माँ?" सुनकर माताजी हँसती हुई बोलीं, "अरी, वे सारी बातें जान जाते हैं, तो भी

जो मन-मुख एक करके अच्छे उद्देश्य से कुछ करता है उसके लिए वे उससे कभी घृणा नहीं करते। डरने की कोई बात नहीं। इनके पास आने के पूर्व मुझे भी वह मन्त्र मिला था। यहाँ आकर उनसे बतलाने पर उन्होंने कहा, 'मन्त्र लिया है तो कोई हर्ज नहीं – अब उसे इष्टदेव के चरणों में समर्पित कर दो।' "

ठाकुर और माताजी के बीच का सम्बन्ध बड़ा रहस्यपूर्ण था। माताजी ने किसी एक भाग्यवान् भक्त से कहा था, "बेटा, ठाकुर को और मुझको अभेद दृष्टि से देखना। हम एक हैं।" करुणामयी माँ ने एक दूसरे समय अपनी एक सन्तान से अपने बारे में इंगित करते हुए कहा था, "देखो बेटी, इस शरीर को (अपनी ओर संकेत कर) देव-शरीर जानना। ... मेरे रहते मुझे कोई भी पहचान नहीं सकेगा, लोग बाद में समझेंगे।"

श्रीरामकृष्ण का छद्मवेश में आगमन हुआ था और श्रीसारदादेवी भी अपना स्वरूप ढँककर गुप्त रूप में आयी थीं। ठाकुर के जीवनकाल में, उनके विशिष्ट भक्तों में से भी कई लोक माताजी को देवी के रूप में स्वीकार नहीं कर सके थे। हाँ, श्रीरामकृष्ण के त्यागी सन्तानों की बात अलग है। वे उनकी गुरुपत्नी थीं और इतना ही परिचय उनके लिए यथेष्ट था। ठाकुर के लीलासंवरण के उपरान्त भी जब तक माताजी ने अपना स्वरूप अभिव्यक्त न करके गोपनीय रखा था, तब तक बहुतसे भक्तों की दृष्टि में वे एक सामान्य महिला मात्र थीं।

योगीन-माँ (योगीन्द्रमोहिनी देवी) श्रीरामकृष्ण की एक अन्तरंग भक्त थीं। उन्हें माताजी के साथ अत्यन्त घनिष्ठतापूर्वक मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, उनकी भावसमाधि देखने का अवसर मिला था, फिर वे उनकी अजस्र स्नेह-ममता की भी अधिकारिणी हुई थीं। माताजी स्नेहपूर्वक उन्हें 'योगेन' कहकर पुकारती थीं। तो भी योगीन-माँ के मन

में संशय का बीज जड़ जमाये हुए था। एक बार उनके मन में आया – 'ठाकुर तो इतने त्यागी थे और माँ को देखती हूँ तो अत्यन्त संसारी। सदा भाई-भतीजों को लेकर ही व्यस्त हैं।' एक दिन वे गंगाजी के घाट पर बैठी ध्यान कर रही थीं कि ठाकुर प्रगट होकर बोले, "देखो, गंगा में क्या बहा जा रहा है।" योगीन-माँ ने देखा कि नाल आदि से लिपटा एक नवजात शिशु गंगा में बहा चला जा रहा है। ठाकुर उसकी ओर संकेत करते हुए बोले, "क्या इससे गंगाजी अपवित्र हो जाती हैं? इस स्पर्श का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उसे (माताजी को) भी ऐसा ही समझना। उस पर सन्देह मत करना। उसे और (अपनी ओर संकेत कर) इसे अभिन्न जानना।"

वहाँ से लौटकर योगीन-माँ ने माताजी को प्रणाम करते हुए कहा, "माँ, मुझे क्षमा करो।" माताजी ने सस्नेह पूछा, "क्यों योगेन, क्या हुआ?" तब योगीन-माँ ने पूरी घटना का वर्णन करते हुए कहा, "मेरा तुम पर कुछ अविश्वास हो गया था। सो आज ठाकुर ने आकर मुझे यह दिखा दिया।" माँ के चेहरे पर बालिकासुलभ हास्य फैल गया। स्नेहपूर्वक वे कहने लगीं, "तो क्या हुआ? अविश्वास तो आएगा ही। पहले संशय आएगा, फिर विश्वास होगा। विश्वास ऐसे ही तो हुआ करता है।" ठाकुर यदि स्वयं न बतलाते तो माताजी के बारे में जगत् न तो जान ही पाता और न उन्हें समझ ही पाता।

६. उत्तरदायित्व-अर्पण

यह जानकर कि श्रीसारदादेवी को नौबतखाने में रहने में कष्ट होता है, ठाकुर उन्हें बीच-बीच में कामारपुकुर तथा जयरामवाटी भेज दिया करते थे। इस प्रकार दक्षिणेश्वर निवासकाल में वे छह-सात बार मायके व ससुराल गयी थीं। इधर उनके जाने पर ठाकुर को खाने-पीने का कष्ट होता था। फिर ठाकुर असुविधा के कारण सन्देश भेजते – "तुम जल्दी चली आना।"

एक बार जब माताजी दक्षिणेश्वर में ही थीं, मारवाड़ी भक्त लक्ष्मीनारायण ने ठाकुर की सेवा के निमित्त दस हजार रुपये देने का प्रस्ताव रखा। ठाकुर ने दृढ़तापूर्वक वह धन लेने से इनकार कर दिया। फिर माताजी को नौबतखाने से बुलवाकर उनका मत जानने के लिए कहा, "अजी, ये रुपये देना चाहते हैं। ये रुपये तुम्हीं क्यों न ले लो! तुम्हारा क्या कहना है?" माताजी ने उत्तर दिया, "सो भला कैसे हो सकता है? रुपये नहीं लिये जाएँगे। मेरे लेने से तो तुम्हारा ही लेना हुआ। क्योंकि मेरे पास रहने से तो मैं उन्हें तुम्हारी सेवा तथा अन्य कार्यों में खर्च किये बिना नहीं रह सकूँगी; इस प्रकार यह तुम्हारा ही लेना होगा। तुम्हारे त्याग के कारण ही लोग तुम्हारे प्रति श्रद्धाभक्ति रखते हैं। अतः यह धन किसी भी हालत में न लिया जाएगा।" सुनकर ठाकुर निश्चिन्त हुए।

श्रीसारदामणि का जन्म एक अत्यन्त निर्धन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। दूसरों का धान कूटकर, जनेऊ बनाकर तथा इसी प्रकार के विविध उपायों से उनकी आजीविका चला करती थी। ऐसी परिस्थिति के बीच बड़ी हुई एक नारी के लिए एक ही वाक्य में दस हजार रुपये त्याग देना सचमुच ही असाधारण बात थी। ठाकुर ने त्याग की साधना में सिद्ध होकर

मिट्टी और रुपये के प्रति समबुद्धि प्राप्त की थी। और श्रीसारदादेवी इस देवमानव के प्रभाव में आकर ही इस ज्ञान में प्रतिष्ठित हो गयी थीं।

नारी के हृदय में स्वाभाविक रूप से ही सन्तान की अभिलाषा होती है। परन्तु भोगस्पृहा से रहित शुद्ध मातृभाव बिरली ही किसी नारी में दिखाई पड़ता है। इस दैवी मातृत्व का विकास श्रीसारदामणि के जीवन में प्रारम्भ से ही होने लगा था। दक्षिणेश्वर में भक्तगण के प्रति उनके व्यवहार में इस मातृत्व का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। श्रीसारदादेवी को देखकर पड़ोस की महिलाएँ खेदपूर्वक कहा करती थीं कि विवाहित जीवन में सन्तानहीन रहना अत्यन्त दुर्भाग्य की बात है। यहाँ तक कि उनकी जननी भी बहुधा चिन्तित रहती थीं – "कैसे पागल जमाई के साथ अपनी सारदा का विवाह कर दिया! अहा! घर-गृहस्थी भी न कर सकी, बाल-बच्चे भी नहीं हुए, 'माँ ' का सम्बोधन भी न सुन सकी।" जयरामवाटी में रहते समय एक दिन सास को इस प्रकार कहते सुनकर ठाकुर ने उनसे कहा 'माँजी, आप इसके लिए दु:ख न करें। आपकी बेटी के इतने बच्चे होंगे कि अन्त में आप देखेंगी - वह 'माँ', 'माँ ' की पुकार से परेशान हो उठेगी।" श्रीरामकृष्णदेव की यह वाणी कैसे अक्षरश: सत्य सिद्ध हुई थी, यह हम आगे देखेंगे।

लोगों की बातें सुन-सुनकर श्रीसारदामणि के प्राणों में सन्तान की स्पृहा कैसे जागृत हुई थी इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं ही कहा था, "स्त्रियों के मुँह से कामारपुकुर में और यहाँ भी बार-बार सुना करती थी – 'बच्चे की माँ न होने पर स्त्री कोई भी कार्य नहीं कर सकती। वन्ध्या नारी का किसी शुभ कार्य में अधिकार नहीं है।' मैं तब छोटी थी। ये सब बातें सुनकर मेरे मन में दु:ख हुआ करता – तो क्या मुझे एक भी सन्तान न होगी? दक्षिणेश्वर में वही बात एक दिन मुझे स्मरण हो आयी, पर मैंने किसी

से कुछ नहीं कहा। ठाकुर स्वयं ही कहने लगे, 'तुम चिन्ता न करो। तुम्हें ऐसे रत्न-जैसे बच्चे दे जाऊँगा, जो लोगों को कठोर तपस्या से या सिर चढ़ाकर भी प्राप्त नहीं होते। बाद में देखोगी कि इतने बच्चे तुम्हें 'माँ' कहकर पुकारेंगे कि तुम्हारे लिए सम्हालना कठिन हो जाएगा।



क्रमशः ठाकुर के गले के रोग का सूत्रपात हुआ और इसके साथ ही दक्षिणेश्वर के मधुमय दिनों का अवसान भी। श्यामपुकुर में एक छोटासा दुमँजिला मकान किराये पर लेकर भक्तगण अस्वस्थ ठाकुर को वहीं ले आये। चिकित्सा होने लगी, परन्तु सुपथ्य के अभाव में उससे आशानुरूप लाभ नहीं हुआ। भक्तगण माताजी को दक्षिणेश्वर से श्यामपुकुर लाने की सोचने लगे। वे चिन्तित थे कि मकान में अन्तःपुर नहीं है, अतः वे इसमें कैसे रह सकेंगी? किन्तु माताजी के सम्मुख प्रस्ताव रखते ही वे असुविधाओं की परवाह न कर ठाकुर की सेवा के निमित्त श्यामपुकुर के मकान में चली आयीं।

यहाँ पर माताजी ने अनेक असुविधाएँ तथा कष्ट सहन किये। मकान की पहली मंजिल में सभी के स्नान के लिए केवल एक ही स्थान था। रात को तीन बजे के पूर्व ही कब स्नान आदि समाप्त कर वे सँकरी छत पर चली जाती थी यह कोई जान ही नहीं पाता था। दिन भर वे उसी सँकरी छत पर रहकर ठाकुर के लिए आवश्यक पथ्य आदि तैयार करतीं और निर्दिष्ट समय पर लोगों को कमरे से हटा दिया जाने पर स्वयं जाकर ठाकुर को खिला आती थीं। गम्भीर रात में सब के सो जाने पर वे नीचे दुमंजले पर अपने कमरे में आती थीं। बहुत हुआ तो तीन घंटे विश्राम करने का समय मिल जाता था। इसी प्रकार वे श्यामपुकुर में ठाकुर की सेवा में निरत थीं। बीच-बीच में गोलाप-माँ आदि भक्त महिलाएँ भी उन्हें इस कार्य में सहयोग दिया करती थीं।

कण्ठरोग होने के चार-पाँच वर्ष पूर्व ही ठाकुर ने अपने देहत्याग के समय की ओर संकेत करते हुए माताजी से कहा था, "जब जिस-तिस के हाथ का खाने लगूँगा, कलकत्ते में रात बिताऊँगा, और भोजन का अग्रभाग दूसरे को देकर शेष स्वयं खाऊँगा, तब समझ लेना कि मेरे देहत्याग करने में अब अधिक देर नहीं है।" उन्होंने और भी कहा था, "जब देखोगी कि बहुतसे लोग इसे (मुझे) देवता मानने लगेंगे तो जान लेना कि देहत्याग का समय हो आया है।" परन्तु कण्ठरोग होने के कुछ पूर्व से ही ठाकुर के व्यवहार से तथा अन्य कई घटनाओं से उनके देहत्याग का संकेत स्पष्ट हो गया था। ऐसी परिस्थिति में माताजी की गम्भीर मनोवेदना का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। ये सब लक्षण देखकर माताजी के अन्तर में यह वेदनापूर्ण प्रश्न उठा था, "तो क्या इन्होंने देहत्याग करने का निश्चय कर लिया है?" पर अप्रिय सत्य पर कौन विश्वास करना चाहता है? साथ ही ठाकुर के असाध्य कण्ठरोग और उनके देहत्याग के लक्षणों से पूर्ण आचरणों को देखने पर इस कठोर सत्य को अस्वीकार करना भी सम्भव नहीं था कि ठाकुर ने अपनी नरलीला का पटक्षेप करने का निश्चय कर लिया है। इसके साथ ही यह बात भी उल्लेखनीय है कि देहत्याग के पूर्व उन्होंने अपने असम्पूर्ण कार्य का भार माताजी को सौंपने का आयोजन किया था।

माताजी के दक्षिणेश्वर आगमन के समय से ही हम देखते हैं कि ठाकुर शिक्षा-दीक्षा, उद्दीपना आदि के माध्यम से उन्हें अपने जीवोद्धारकार्य के लिए उपयोगी यन्त्र के रूप में गढ़ रहे हैं। इसके साथ ही उन्होंने माताजी को अपनी साधना द्वारा प्राप्त बहुतसे अपार शक्तिसम्पन्न सिद्ध मन्त्र सिखाकर तथा उन्हें अधिकारी-भेद से कैसे वितरित करना होगा आदि समझाकर, उनके अन्दर निहित गुरुशक्ति को सक्रिय एवं कार्योन्मुख किया था। इस कार्य को प्रारम्भ करने के उद्देश्य से ठाकुर विशेषकर बालक तथा

महिला भक्तों को माताजी के पास भेजा करते थे। आगे चलकर हम देखेंगे कि ठाकुर कैसे अपने कण्ठरोग के माध्यम से भावी रामकृष्ण-संघ का गठन करने लगे तथा कैसे उसके केन्द्र में उन्होंने अधिष्ठात्री देवी के रूप में श्रीसारदादेवी को प्रतिष्ठित किया।

दक्षिणेश्वर में षोडशी-पूजादि के माध्यम से माताजी के देवीत्व की घोषणा करने के पूर्व भी ठाकुर ने कामारपुकुर तथा जयरामवाटी में इसके बहुतसे संकेत दिये थे। इसके अतिरिक्त त्यागी युवक-भक्तगण प्रारम्भ से ही माताजी के प्रति किस दृष्टि से देखते थे, इसका आभास भी हम विविध घटनाओं के माध्यम से पाते हैं।

एक दिन ठाकुर त्यागी भक्तों से बोले, "तुम लोगों की भिक्षा का अन्न खाने की इच्छा हो रही है।" यह सुनकर नरेन्द्र आदि भक्तगण उल्लसित हो उठे। भिक्षाटन को चलने के पूर्व उनके मन में आया कि पहले माताजी से ही भिक्षा लेना उचित होगा। उनके माताजी के निकट भिक्षार्थ पहुँचते ही माताजी ने उसके भिक्षापात्र में एक रुपया डाल दिया। आशातीत भिक्षा पाकर वे लोग भावविभोर हो उठे। इस प्रकार त्यागी भक्तगण प्रत्येक कार्य में पहले माताजी की आशीष-याचना करते थे। माताजी भी स्नेहमयी जननी के समान उन्हें उदारतापूर्वक आशीर्वाद देकर सन्तुष्ट किया करती थीं।



आगे चलकर एक उत्सुक भक्त ने माताजी से पूछा था, "माँ, अन्य सभी अवतारों ने तो अपनी-अपनी शक्ति के पश्चात् ही देहत्याग किया है, परन्तु इस बार आपको छोड़कर ठाकुर पहले ही क्यों चले गये?" माताजी ने उत्तर दिया, "बेटा, जानते हो न, ठाकुर का सभी के प्रति मातृभाव था! जगत् में उस मातृभाव के विकास के लिए वे मुझे छोड़ गये हैं। एक दूसरे समय माताजी ने इस सम्बन्ध में कहा था, "जब ठाकुर चले

गये, तो मुझे भी जाने की इच्छा हुई। पर वे प्रगट होकर बोले, 'नहीं, तुम अभी रहो; बहुत सा काम बाकी पड़ा है।'...फिर देखा तो सचमुच ही बहुत सा कार्य बाकी रह गया था।"

श्यामपुकुर में ढाई महीने तक रहकर चिकित्सा करने के बाद भी रोग का उपशम होना तो दूर रहा, उसमें वृद्धि ही दिखाई पड़ी। अत: चिकित्सकों ने स्थान-परिवर्तन का परामर्श दिया। तदनुसार भक्तों ने काशीपुर में एक हवादार उद्यान-भवन किराये पर लिया और ११ दिसम्बर, १८८५ ई. के दिन ठाकुर को माताजी तथा सेवकों के साथ वहाँ ले आये। इस खुले स्थान में आकर ठाकुर विशेष आनन्दित हुए। काशीपुर में ठाकुर की सेवा के निमित्त युवक-भक्तगण भी अधिकाधिक संख्या में आकर रहने लगे। इस प्रकार काशीपुर में ठाकुर तथा माताजी को केन्द्र बनाकर भावी रामकृष्ण-संघ मूर्त रूप धारण करने लगा।

काशीपुर के भवन में लकड़ी के जीने की सीढ़ियाँ इतनी उँची थीं कि महिलाओं की तो बात ही क्या, पुरुषों के लिए भी उस पर चढ़ना-उतरना कष्टसाध्य था। एक दिन माताजी बड़े कटोरे में ढाई सेर दूध लेकर ऊपर चढ़ रही थीं कि सिर चकरा जाने से गिर पड़ी। दूध तो बरबाद हुआ ही, इसके अतिरिक्त माताजी की एड़ी की हड्डी सरक जाने से वे चलने में भी असमर्थ हो गयीं। वे तीन दिन तक ठाकुर की सेवा में न जा सकीं। चौथे दिन ठाकुर के लिए पथ्य बनाकर उन्हें खिलाने के लिए जब वे ऊपर गयीं तो देखा कि ठाकुर उदास भाव से आँखें बंद किये लेटे हैं। हाथ में पथ्य लिये हुए माताजी ने आवाज दी, "उठो, अब खा लो।" माताजी का कण्ठस्वर कान में पड़ते ही ठाकुर मानो किसी दूर देश से लौटे और सोकर उठने के समान, अत्यन्त उदास दृष्टि से माताजी की ओर ताकते हुए, अपना दुर्बल हाथ कलकत्ते की ओर फैलाकर बोले, "देखो; कलकत्ते के लोग मानो अँधेरे में कीड़ों की तरह कुलबुला रहे हैं। तुम उन्हें देखना।"

माताजी नें आत्मगोपनतापूर्वक कुछ शिकायत के स्वर में कहा, "मैं औरत की जात! यह कैसे कर सकूँगी?" ठाकुर अपने शरीर की ओर संकेत करते हुए अपने ही भाव में कहते रहे, "इसने कितना किया है? तुम्हें इससे भी बहुत अधिक करना होगा?" माताजी ने प्रसंग को बदलते हुए थोड़ी दृढ़ता के साथ कहा, "वह सब जब होगा, तब होगा। अभी तुम खा तो लो।" माताजी की बात से आश्वस्त होकर ठाकुर उठ बैठे।

पहले भी श्रीरामकृष्ण सुर के साथ गाया करते थे – "जिस मुसीबत में आ पड़ी हूँ, वह भला किसे कहूँ? जिसका दायित्व है वह स्वयं ही जानता है। दूसरा कोई उसे कैसे समझ सकता है? मैं परदेशी नारी हूँ, लज्जा से मुख भी नहीं दिखा सकती, बोल भी नही सकती, कह भी नहीं सकती। अहा, नारी होना कितनी मुसीवत है?" इसके साथ ही वे माताजी को चेतावनी भी दिया करते थे; "क्या सिर्फ मेरी ही जिम्मेदारी है। तुम्हारी भी है।"

फिर केवल उनके स्वरूप का स्मरण कराके अथवा दायित्व-अर्पण की बात कहकर ही ठाकुर निश्चिन्त नहीं रह जाते थे बल्कि भक्तों को उनके पास भेजकर उनकी शक्ति की अभिव्यक्ति के लिए पृष्ठभूमि भी तैयार किया करते थे। इन घटनाओं से पता चलता है कि ठाकुर ने देहत्याग के पूर्व ही अपने असमाप्त कार्य का भार श्रीसारदादेवी को सौंप दिया था।

७. श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के पश्चात्

अपना युगधर्म-स्थापन का गुरु-दायित्व श्रीसारदादेवी तथा त्यागी सन्तानों को अर्पित करने के पश्चात् श्रीरामकृष्ण अपनी मर्त्यलीला का संवरण करने को प्रस्तुत हुए।

इसी समय में एक दिन कुछ भक्त फल-मिष्टान्न आदि लेकर जब दक्षिणेश्वर पहुँचे तो पाया कि ठाकुर चिकित्सा के लिए काशीपुर गये हुए हैं। इस पर उन लोगों ने ठाकुर के चित्र के सम्मुख ही भोग लगाकर प्रसाद ग्रहण किया। इस समाचार के काशीपुर पहुँचने पर सभी लोग अत्यन्त विचलित हो उठे। उसे सुनकर ठाकुर भी कह उठे, "उन लोगों ने माँ काली को भोग निवेदित न करके (मेरे) चित्र को क्यों किया?" अमंगल की आशंका से माताजी रोने लगीं। यह देखकर ठाकुर बोले, "अजी, तुम लोग बिल्कुल चिन्ता न करो। इसके बाद घर-घर में मेरी पूजा होगी। सच कहता हूँ – कसम से।" यह वाक्य सुनकर माताजी समझ गयीं कि ठाकुर अब लीलासंवरण करने का निश्चय कर चुके हैं। विशेषकर उसी दिन उन्होंने अपने बारे में पहली बार 'मेरी' शब्द का प्रयोग किया था।

ठाकुर के तिरोभाव का काल तेजी से निकट आ रहा था। इसका आभास माताजी को अन्य माध्यमों से भी मिल रहा था। एक दिन उन्होंने स्वप्न में देखा कि माँ काली गरदन को टेढ़ा किये हुए हैं। माताजी ने पूछा, "माँ, तुमने ऐसा क्यों कर रखा है?" माँ काली ने कहा," उसके (ठाकुर के गले के घाव के) कारण मेरे भी हो गया है।" ठाकुर ने अपने कण्ठरोग के कारण के बारे में माताजी से कहा था, "जो कुछ होना था वह मुझ पर से ही हो गया। तुम लोगों में से अब और किसी को कष्ट नहीं भोगना होगा। संसार के सभी के लिए मैं भोग कर गया।" ठाकुर की यह बात सुनकर माताजी को सचमुच ही ऐसा लगा कि जगत् के कल्याण के लिए अवतीर्ण

ठाकुर के रोग का यही वास्तविक कारण है; अन्यथा ऐसे शुद्ध, निष्पाप शरीर में ऐसी कठोर व्याधि का दूसरा क्या कारण हो सकता है? नीलकण्ठ शिव के समान ही इस युग में श्रीरामकृष्णदेव ने इस जगत् का पाप-ताप लेकर अपने कण्ठ में धारण कर लिया था।

१५ अगस्त, १८८६ ई., रविवार; ठाकुर की नरलीला का अन्तिम दिन था। नि:स्तब्ध रजनी झिल्लियों की झंकार से गूँज रही थी। रात को १ बजकर ६ मिनट पर ठाकुर ने अपने स्वाभाविक स्वर में जोर से तीन बार 'काली' नाम का उच्चारण किया और समाधिमग्न हो गये। उनका शरीर रोमांचित हुआ तथा मुखमण्डल दिव्यानन्द से प्रदीप्त हो उठा। यही समाधि महासमाधि में परिणत हुई। श्रीरामकृष्णदेव अपने स्वरूप में लीन हुए। माताजी रो उठीं, "मेरी माँ काली, तुम मुझे छोड़कर कहाँ गयीं?" आगामी दिन काशीपूर के श्मशान में उनकी पावन देह चिताग्नि में सौंप दी गयी।चिता शान्त हो जाने पर उनकी पवित्र भस्मास्थियाँ एक ताम्रकलश में भरकर उद्यान-भवन में उनके बिस्तर पर रख दी गयीं।

उधर ठाकुर ने महासमाधि ली और इधर सन्ध्या को शोकातुर माताजी ने विधवा का वेश धारण किया। उन्होंने अपने श्रीअंग से एक-एक कर के सारे आभूषण उतार डाले। अन्त में जब वे अपने हाथों से सोने के कंगन उतार रही थीं तो ठाकुर कण्ठरोग के पूर्व के रूप में प्रगट हुए और उनका हाथ पकड़कर बोले, "हाथ के कंगन मत खोलो। क्या मैं मर गया हूँ, जो तुम सुहाग की वस्तु हाथ से निकाल रही हो?" हाथ के कंगन हाथ में रह गये। माताजी ने स्वयं ही अपनी साड़ी का किनारा फाड़कर पतला बना लिया, और तब से वे सदा पतली किनारी की साड़ी ही पहना करती थीं।

देहत्याग के बाद ही ठाकुर का अचानक चिन्मय शरीर में प्रगट होना तथा माताजी को दर्शन देकर सान्त्वना प्रदान करना – इस घटना ने सभी के प्राणों में युगान्तरकारी परिवर्तन ला दिया। सभी ने समझा कि ठाकुर के देहत्याग के साथ ही सब कुछ समाप्त नहीं हो गया है। वे अब भी हैं तथा सब की देखभाल कर रहे हैं – इस विश्वास ने दृढ़ होकर सब के हृदय में आशा तथा उत्साह का संचार कर दिया।

तीसरे दिन प्रात:काल माताजी ने युवक-भक्त योगीन को पूजा का आयोजन करने कहा तथा दोपहर को ठाकुर की पावन अस्थियों से पूर्ण कलश के सम्मुख उन्होंने यथाविधि पूजा की तथा भोग निवेदित किया। इसके बाद भी उन्होंने कुछ दिन पूजा की। ठाकुर ने तो माताजी से कहा ही था, कि इसके बाद घर-घर में मेरी पूजा होगी। अत: माताजी ने ही ठाकुर की वाणी को मूर्त रूप में परिणत किया। माताजी ने ही जगत्-हिताय सर्वप्रथम प्रकट रूप से ठाकुर की पूजा का श्रीगणेश किया।

ठाकुर के देहत्याग के पश्चात् माताजी ने भी शरीर छोड़ने का संकल्प किया। इस पर ठाकुर उन्हें दर्शन देकर बोले, "नहीं, तुम रहो। मेरा कार्य बाकी रह गया है।" परन्तु ठाकुर जिस शून्यता की सृष्टि कर गये थे, वह माताजी के लिए क्रमश: असह्य हो उठी। तथापि ठाकुर का आदेश था कि उन्हें रहना ही होगा। वह तीव्र विरह आसानी से भूलने का नहीं था। प्रतिक्षण प्रत्येक कार्य एवं प्रत्येक विचार के बीच वह अभावबोध आकर उन्हें पीड़ित किया करता– सतत मन में आता कि ठाकुर का सजीव विग्रह अब नहीं रहा। तदुपरान्त ठाकुर के शाश्वत चिन्मय रूप का पुन: पुन: दर्शन पाकर, उनकी 'इसके बाद मैं सूक्ष्म शरीर में तुम्हारे भीतर रहूँगा' आदि वाणी का स्मरण कर तथा सन्तानों के मुख से 'माँ', 'माँ' की पुकार सुनकर माताजी को थोड़ी सान्त्वना मिली।

इधर वयस्क भक्तों ने निश्चय किया कि ठाकुर के देहत्याग के पश्चात् अब उद्यान-भवन को रखने में कोई सार्थकता नहीं हैं। अतः किराये की अवधि समाप्त होने पर उसे छोड़ दिया जाए। तदनुसार ठाकुर के कुछ अस्थि-अवशेष तथा व्यवहृत वस्तुएँ नित्यपूजादि के निमित्त बागबाजार-निवासी भक्त बलराम बसु के मकान में भेज दी गयीं। ठाकुर के देहत्याग के सात दिन पश्चात् माताजी भी काशीपुर छोड़कर बलरामबाबू के घर पर चली आयीं। माताजी के मन की व्यथा क्रमशः बढ़ने लगी। तीर्थदर्शन से सम्भव है उनका तीव्र शोक थोड़ा कम हो, ऐसा विचार कर भक्तों ने उन्हें वृन्दावन भेजने का निश्चय किया। इस व्यवस्था के अनुसार बलराम-भवन में आठ दिन बिताने के बाद ३० अगस्त को माताजी वृन्दावन के लिए रवाना हुईं। गोलाप-माँ, लक्ष्मीदेवी, मास्टर महाशय की पत्नी ये भक्त महिलाएँ तथा योगीन, काली और लाटू ये त्यागी भक्त उनके साथ गये। राह में देवघर में उतरकर वैद्यनाथ के दर्शन करने के पश्चात् वे लोग वाराणसी आये। यहाँ उन्होंने आठ-दस दिन रहकर विश्वनाथ, अन्नपूर्णा तथा अन्य प्रसिद्ध देव-देवियों के दर्शन किये। माताजी ने वेणीमाधव के ध्वज पर चढ़कर विश्वनाथ की स्वर्णपुरी का अवलोकन किया। विश्वनाथ की आरती देखते समय उन्हें भावावेश हो गया। बाद में उन्होंने बताया था, "ठाकुर मेरा हाथ पकड़कर मन्दिर से बाहर ले आये।"

काशी से वे लोग अयोध्या पहुँचे और वहाँ एक दिन रहकर श्रीरामचन्द्र की लीलाभूमि का दर्शन किया। अयोध्या से वृन्दावन के मार्ग में माताजी को एक अकल्पनीय रूप से ठाकुर के दर्शन प्राप्त हुए। इस प्रसंग में माताजी ने बाद में कहा था, "वृन्दावन जाते समय रास्ते में देखती हूँ कि ठाकुर गाड़ी की खिडकी से मुँह बढ़ाकर कह रहे हैं, 'कवच (तावीज) साथ में लायी हो, देखना कहीं खो न जाए।' उनका दिया हुआ सोने का

इष्टकवच मेरे हाथ में ही था।" माताजी ने उसे तुरन्त निकालकर बक्से में रख दिया।

वृन्दावन में वे लोग बलरामबाबू के यमुनातट पर स्थित 'कालाबाबू का कुंज' नामक मन्दिर में ठहरे। श्रीवृन्दावन-भगवान् का लीलाक्षेत्र! भावमय कृष्णभूमि! सर्वत्र ही उनकी लीला का माधुर्य व्याप्त था। कृष्णमय वृन्दावन में आकर माताजी के शोकसन्तप्त प्राण क्रमशः शीतल हुए। वे साधन-भजन के अतल सागर में डूब गयीं तथा प्रतिक्षण भावसमाधि में विभोर होकर रहने लगीं। विरह के अश्रु धीरे धीरे आनन्दप्लावन में परिणत हुए। एक दिन प्रात:काल कुंज में बैठकर ध्यान करती हुई वे इतनी गहन समाधि में मग्न हो गयीं कि उनका मन नीचे उतरता ही नहीं था। भक्त महिलाओं द्वारा भगवान् के विविध नाम सुनाने पर भी उनकी समाधि नहीं उतरी। बाद में योगीन महाराज आकर नाम सुनाने लगे, तब समाधि का थोड़ा उपशम हुआ। समाधि टूटने के समय ठाकुर जिस प्रकार बोलते थे उसी प्रकार माताजी भी बोलीं, "खाऊँगी।" कुछ भोजन, जल तथा पान उनके सामने रखे गये। फिर उन्होंने ठाकुर की ही तरह थोड़ा थोड़ा खाया; उसी तरह पान के बीड़े का नुकीला भाग दाँत से काटकर फेंक दिया तथा शेष भाग खाया। बाद में उन्होंने बताया कि उन्हें ठाकुर का आवेश हुआ था। इस बार माताजी भक्तों के साथ वृन्दावन में लगभग एक वर्ष रहीं। अधिकांश समय वे भावानन्द में तन्मय रहा करती थीं। कभी-कभी वे भावावेश में अकेली ही यमुनातट पर घूमा करतीं। संगिनियाँ उन्हें ढूँढ़कर वापस ले आतीं। कभी-कभी वे आनन्द-उल्लास से पूर्ण एक छोटी बालिका के समान संगिनियों के साथ मन्दिर-मन्दिर घूमती हुई देवदर्शन किया करती थीं। वहाँ उन्हें विविध अलौकिक दर्शन भी होते थे।

एक दिन कुछ लोग कीर्तन करते हुए पुष्प आदि से सजाकर एक शव लिये जा रहे थे। उसे देखकर माताजी बोलीं, "देखो, देखो, उस

व्यक्ति को वृन्दावन प्राप्त हो गया। हम लोग यहाँ मरने के लिए आये पर किसी दिन थोड़ा बुखार तक नहीं आया। देखो तो मेरी कितनी उमर हो गयीं! अपने पिता को देखा है, जेठ को देखा है।" सुनकर साथ की महिलाएँ हँसते-हँसते लोटपोट हो गयीं और कहने लगीं, "कहती क्या हो माँ! पिता को देखा है? पिता को भला कौन नहीं देखता?" माताजी ऐसी बालक स्वभाव की हो गयीं थीं।

ठाकुर के वियोग में माताजी तब भी बहुत रोया करती थीं। एक दिन ठाकुर ने पुन: दर्शन देकर कहा, "क्यों जी, तुम लोग इतना रोती क्यों हो? मैं तो यहीं हूँ, गया किधर हूँ? यही, जैसे इस कमरे से उस कमरे में।"

वृन्दावन में ठाकुर ने अपनी शक्तिरूपिणी माताजी के द्वारा अपना एक असमाप्त कार्य पूरा करवाया तथा इसके द्वारा माताजी के जीवन में एक नवीन अध्याय का आरम्भ हुआ। एक दिन ठाकुर ने उन्हें दर्शन देकर कहा, "मैंने योगीन को मन्त्रदीक्षा नहीं दी है। तुम उसे मन्त्र दो।" पहले दिन तो माताजी ने इसे अपने मस्तिष्क की कल्पना सोचकर इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। मन में संकोच भी हुआ कि सभी कहेंगे, माँ इसी बीच शिष्य भी बनाने लगीं। दूसरे दिन ठाकुर ने पुन: उन्हें दर्शन देकर दीक्षा देने की बात कही, पर उन्होंने उस पर भी विशेष ध्यान नहीं दिया। तीसरे दिन फिर उसी प्रकार आदेश मिलने पर उन्होंने ठाकुर से कहा, "मैं तो उसके साथ बात तक नहीं करती, फिर मन्त्र कैसे दूँ?" इस पर ठाकुर ने उत्तर दिया, "तुम योगीन बिटिया से कहो, वह उपस्थित रहेगी।" उन्होंने यह भी बता दिया कि कौनसा मन्त्र देना होगा। इधर ठाकुर ने योगीन महाराज को भी स्वप्न में दर्शन देकर माताजी से मन्त्र लेने का आदेश दिया। परन्तु योगीन महाराज को साहस नहीं हुआ कि यह बात जाकर माताजी को बताएँ। माताजी ने योगीन-माँ के द्वारा योगीन महाराज से पुछवाया तो

पता चला कि ठाकुर ने उन्हें कोई इष्टमन्त्र नहीं दिया है। तब वे उन्हें दीक्षा देने को सम्मत हुईं। दीक्षा के दिन ठाकुर के चित्र तथा देहावशेष के पात्र की पूजा करते हुए माताजी को भावावेश हुआ। तब उन्होंने योगीन महाराज को बुलाकर बैठने को कहा तथा उन्हें भावावस्था में ही मन्त्र दिया। माताजी ने मन्त्र का उच्चारण इतनी जोर से किया कि वह समीप के कमरे में भी सुनाई दिया। योगीन महाराज ही माताजी के प्रथम मन्त्रशिष्य हैं। आगे चलकर गंगा की पवित्र धारा के समान ही माताजी की कृपावारि ने असंख्य प्राणों को नवजीवन प्रदान किया– जिसका विवरण हमें क्रमश: मिलेगा।

इसी समय एक बार माताजी ने सब के साथ पैदल ही वृन्दावन की परिक्रमा की। उन दिनों वे सर्वदा भावविभोर रहा करती थीं तथा अत्यन्त बारीकी के साथ व्रज के रास्तों का निरीक्षण करती थीं। इस दीर्घ परिक्रमा में एक पक्ष से भी अधिक समय लगा था।

वृन्दावन से माताजी योगीन महाराज तथा महिला-भक्तों के साथ हरिद्वार गयीं। वहाँ पर उन्होंने ब्रह्मकुण्ड के पवित्र जल में ठाकुर के कुछ केश तथा नख विसर्जित किये। गंगा पार कर चण्डी पहाड़ के ऊपर चढ़कर उन्होंने देवीदर्शन भी किया। तत्पश्चात् माताजी अपने दल के साथ जयपुर गयीं। वहाँ पर उन्होंने गोविन्दजी के दर्शन करने के पश्चात् अन्य देवताओं के भी दर्शन किये। जयपुर के बाद पुष्करतीर्थ आया। यहाँ पर माताजी ने सावित्री पर्वत पर आरोहण किया। पैरों में वात का दर्द रहने पर भी माताजी ने काफी कष्ट उठाकर तीर्थों में पैदल ही चलते हुए मन्दिर आदि के दर्शन किये थे।

पुष्कर आदि का दर्शन करने के उपरान्त माताजी वृन्दावन लौट आयीं। फिर कुछ दिन वहाँ रहने के बाद वर्ष के अन्त में वे प्रयाग होते हुए कलकत्ता आयीं। प्रयाग में गंगा-यमुना के संगम में उन्होंने ठाकुर के

बचे हुए केश विसर्जित किये। इस प्रसंग में उन्होंने बाद में कहा था, "ठाकुर का केश क्या साधारण वस्तु है! उनके देहत्याग के पश्चात् जब मैं (वृन्दावन से कलकत्ते के मार्ग में) प्रयाग आयी, तब तीर्थ में डालने के लिए उनके केश भी साथ ले गयी थी। गंगा-यमुना संगम के शान्त जल के निकट केश को हाथ में लिये पानी में छोड़ने का विचार कर ही रही थी कि अचानक एक लहर उठी और मेरे हाथ से उसे लेकर फिर विलीन हो गयी। तीर्थ ने स्वयं पवित्र होने के लिए मेरे हाथ से उनके केश ले लिये।" इस प्रकार तीर्थदर्शन तथा ठाकुर के बारम्बार दर्शन का आनन्द हृदय में लिये माताजी ने ३१ अगस्त १८८७ ई. को कलकत्ता लौटकर भक्त बलराम बसु के भवन में पदार्पण किया।

८. कामारपुकुर में कठोर साधना

कलकत्ते में बलराम के गृह में पन्द्रह दिन बिताने के उपरान्त माताजी कामारपुकुर गयीं। यात्रा के पूर्व उन्होंने दक्षिणेश्वर जाकर देवी-देवताओं को प्रणाम किया तथा श्रीरामकृष्ण की स्मृति से जड़ित स्थानों का जी भरकर अवलोकन किया। योगीन महाराज, गोलाप-माँ आदि साथ जाकर माताजी को कामारपुकुर पहुँचा आये। पास में पर्याप्त पाथेय न होने के कारण वे लोग बर्दवान तक रेलगाड़ी से आये और वहाँ से उचालन तक सोलह मील का रास्ता पैदल ही तय किया। इसके फलस्वरूप माताजी बहुत थक गयीं तथा बड़ी मुश्किल से कामारपुकुर पहुँची। कुछ दिन बाद योगीन महाराज आदि लौट गये और कामारपुकुर में माताजी का दुःखमय जीवन आरम्भ हुआ। इस बार माताजी ने कामारपुकुर में आठ-नौ महीने निवास किया था। ठाकुर ने एक बार उनसे कहा था। "तुम कामारपुकुर में रहना, शाक लगाना, साग-भात खाना और हरिनाम लेना।" आदर्श सात्त्विक जीवन-यापन का कितना सुन्दर चित्र है!

माताजी के जीवन में कामारपुकुर-वास का यह काल अत्यन्त क्लेशपूर्ण, निःसंग, निर्धनतापूर्ण तथापि आन्तरिक दृष्टि से माधुर्यमय है। ठाकुर के बारम्बार दर्शन पाने के कारण माताजी का हृदय आनन्दमय बना रहता था – सांसारिक दुःख, अभाव का ताप वहाँ तक पहुँच नहीं पाता था। ठाकुर के आदेश का स्मरण कर वे सभी दुःख-कष्टों की उपेक्षा करते हुए कामारपुकुर में निवास कर रही थीं। ऐसे भी दिन गये, जब उन्होंने साग-भात उबाला, पर नमक नहीं जुटा सकीं। ठाकुर का आदेश उनके कानों में ध्वनित हुआ करता था – "देखो, एक पैसे के लिए भी किसी के सन्मुख हाथ मत फैलाना। तुम्हें मोटे अन्न-वस्त्र का अभाव नहीं रहेगा।

यदि एक पैसे के लिए भी किसी के सामने हाथ फैलाया तो समझना उसके हाथ तुम्हारा सिर बिक गया।... अत: किसी के सामने सीधा हाथ मत फैलाना, जहाँ तक हो सके हाथ उलटा कर दान करना।" माताजी ने इस आदेश का आजीवन अक्षरश: पालन किया।

प्रसंग उठने पर एक दिन माताजी ने कहा था, "वृन्दावन से लौटने के बाद जब मैं कामारपुकुर में थी तो लोग तरह तरह की चर्चा करते थे। अत: लोकभय से मैंने हाथ का कंगन उतार डाला। फिर सोचा कि गंगारहित स्थान में कैसे रहूँगी। गंगास्नान को जाने का निश्चय किया। मुझे सदा ही गंगाजी से थोड़ा लगाव रहा है। एक दिन क्या देखती हूँ कि सामने के रास्ते से होकर (भूतिर खाल की तरफ से)ठाकुर चले आ रहे हैं तथा उनके पीछे नरेन, बाबुराम, राखाल आदि भक्त एवं और भी कितने ही लोग हैं। देखा कि ठाकुर के चरणों से जल की धारा लहरों के रूप में आगे-आगे उछलती जा रही है। सोचा– ये ही तो सब कुछ हैं, इन्हीं के चरणकमलों से तो गंगाजी निकली हैं। जल्दी से रघुवीर के मन्दिर के निकट जवावृक्ष से अंजलि भर-भर फूल तोड़कर गंगाजी में चढ़ाने लगी! तब ठाकुर ने मुझसे कहा, 'तुम अपने हाथों का कंगन मत उतारो। वैष्णवतन्त्र जानती हो न?' मैं बोली, 'वैष्णवतन्त्र क्या है? मैं तो कुछ भी नहीं जानती।' ठाकुर बोले, 'आज तीसरे पहर गौरदासी आएगी, उससे सुन लेना!' " उसी दिन तीसरे पहर गौरी-माँ आयीं और वैष्णवतन्त्र की व्याख्या करके माताजी को समझा दिया कि उनका वैधव्य असम्भव है, क्योंकि उनके पति चिन्मय हैं; फिर वे स्वयं लक्ष्मी हैं, अत: उनके आभूषण त्याग देने पर जगत् श्रीहीन हो जाएगा। इसके बाद माताजी के मन से लोकनिन्दा का भय जाता रहा। उन्होंने कंगन नहीं उतारा। कामारपुकुर में ही किसी दूसरे समय माताजी को ठाकुर का एक अत्यन्त घनिष्ठता-सूचक दर्शन मिला था, जिसके बारे में उन्होंने कहा था, "एक

दिन ठाकुर ने दर्शन देकर कहा, 'खिचड़ी खिलाओ।' मैंने खिचड़ी पकाकर रघुवीर को भोग चढ़ाया। फिर बैठकर भाव में ठाकुर को खिलाने लगी (क्योंकि रघुवीर ही अन्य रूप में श्रीरामकृष्ण हैं)।"

९. भक्तों के साथ

इधर त्यागी सन्तानों तथा भक्तों को जब माताजी के कामारपुकुर-निवास की नाना असुविधाओं का पता चला तो वे उन्हें कलकत्ता लाने की व्यवस्था करने लगे। माताजी भक्तों का मनोभाव समझती थीं, फिर भी दो-एक जटिल समस्याएँ थीं जिन पर अच्छी तरह विचार किये बिना अचानक वे किसी निर्णय पर पहुँच नहीं पा रही थीं। माताजी कामारपुकुरमें अपनी ससुराल में थीं। वहाँ पर और भी लोग थे, समाज था। उन्होंने सभी का मतामत जानकर, अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्वक सभी की सम्मति लेते हुए कलकत्ता जाने का निर्णय किया। इस प्रकार आठ-नौ महीने कामारपुकुर में बिताने के पश्चात् भक्तों के हार्दिक आमन्त्रण पर १८८८ ई. मई में माताजी, कलकत्ता आकर बलरामबाबू के मकान में ठहरीं। उनकी तीव्र गंगाभक्ति के कारण भक्तों ने गंगा के पश्चिमी तट पर वर्तमान बेलुड़ मठ के निकटवर्ती नीलाम्बर मुखर्जी का उद्यान-भवन किराये पर लिया तथा उन्हें वहीं ले आये। माताजी वहाँ दो महीने रहीं। उस अवधि में उनके साथ योगीन-माँ, गोलाप-माँ तथा उनकी देखभाल के लिए योगीन महाराज (स्वामी योगानन्द)रहे थे। मानो बेलुड़ को महातीर्थ में परिणत करने के लिए माताजी उन दिनों काफी समय तक ध्यानमग्न रहा करती थीं। एक दिन सन्ध्या के बाद वे छतपर बैठी ध्यान कर रही थीं। निकट में योगीन-माँ तथा गोलाप-माँ भी थीं। माताजी का मन धीरे धीरे निर्विकल्प समाधि में आरूढ़ हुआ, शरीर स्पन्दनहीन हो गया। काफी देर बाद चेतना लौटने पर उन्होंने कहा, "अरी योगेन, मेरे हाथ कहाँ हैं, पाँव कहाँ हैं?" तब भी देहज्ञान नहीं लौट रहा था। भक्त-महिलाएँ उनके हाथ-

पाँव दबाते हुए कहने लगीं, "ये रहे हाथ, ये रहे पाँव!" उस दिन शरीरबोध लौटने में बहुत समय लगा था।*

बेलुड़ में निवास करते समय माताजी के मन में दो बार जगन्नाथदेव का आकर्षण अनुभव हुआ। भक्तों को इसका पता चलने पर उन्होंने माँ के श्रीक्षेत्र जाने की व्यवस्था की। माँ को नीलाचल जाते देखकर स्वामी ब्रह्मानन्द, योगानन्द, सारदानन्द तथा योगीन-माँ, उनकी माता, गोलाप-माँ और लक्ष्मीदेवी भी उनके साथ जाने को प्रस्तुत हुए। उस समय पुरी तक रेल लाइन नहीं थी, अत: वे लोग ७ नवम्बर १८८८ ई. को कलकत्ते से बड़े स्टीमर से चाँदवाली पहुँचे, फिर छोटे स्टीमर से कटक तक आये और कटक से बैलगाड़ी से जगन्नाथपुरी पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही तुरन्त वे जगन्नाथदेव के दर्शन करने चले क्योंकि उस दिन दर्शन न होने पर अशुभ काल पड़ जाता। पुरी में माताजी महिला-भक्तों के साथ बलरामबाबू के 'क्षेत्रवासी' नामक भवन में ठहरीं तथा पुरुष-भक्तों के ठहरने की व्यवस्था 'शशिनिकेतन' में हुई।

माताजी प्राय: प्रतिदिन पैदल ही जगन्नाथ-दर्शन को जाया करती थीं। बलराम-परिवार के पण्डा गोविन्द शृंगारी ने उन्हें पालकी में ले जाने का प्रस्ताव रखा पर उन्होंने कहा, 'नहीं गोविन्द, तुम आगे-आगे रास्ता दिखाते हुए चलना और मैं तुम्हारे पीछे-पीछे दीन-हीन भिखारिन की तरह जगन्नाथ-दर्शन को चलूँगी।' मन्दिर में पहुँचकर उन्होंने देखा कि मानो जगन्नाथदेव वहाँ पुरुषसिंह के रूप में विराजमान हैं और वे स्वयं उनकी चरणसेवा कर रही हैं।

---

* उस स्थान को चिरकाल के लिए महातीर्थ के रूप में परिणत करने के लिए ही माताजी ने वहाँ तपश्चर्या की थी या नहीं, कौन कह सकता है? माताजी ने बेलुड़ ग्राम के विविध स्थानों में (सन् १८८८, '९०, '९३ तथा '९५ ई. में) विभिन्न अवसरों पर कुल मिलाकर डेढ़ वर्ष से भी अधिक काल निवास किया था। वर्तमान बेलुड़ मठ की भूमि इसके काफी दिनों बाद १८९८ ई. में खरीदी गयी थी।

ठाकुर अपने स्थूल शरीर में कभी जगन्नाथ के दर्शन करने श्रीक्षेत्र नहीं गये थे। अत: एक दिन माताजी उनका चित्र अपने से ढँककर ले गयीं और उन्हें जगन्नाथजी के दर्शन कराये। पुरी में माताजी बहुधा भावतन्मय रहा करती थीं। वहाँ पर उन्हें एक अद्भुत दर्शन भी हुआ था। जगन्नाथमूर्ति के बारे में एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा था, "परन्तु मैंने तो (स्वप्न में) शिवमूर्ति देखी थी।... नहीं, केवल शिवमूर्ति- शिवलिंग। एक लक्ष शालिग्रामों की वेदी थी, उसके ऊपर जगन्नाथ शिव विराजमान थे।... वहाँ विमलादेवी भी हैं। महाष्टमी की रात को उन्हें बलि चढ़ायी जाती है। विमला दुर्गा हैं न। अत: शिव क्यों न रहेंगे?"

उस बार माताजी ने लगभग ढ़ाई मास पुरी में निवास किया था। इस समय उनका ठाकुर के साथ नित्यसम्बन्ध था, नित्यमिलन था। 'मन्नाथ' 'जगन्नाथ' हो गये थे। चित्रूप में सर्वत्र ठाकुर ही व्याप्त थे और अब उनके साथ चिरमिलन था। उन्होंने पुरी के सभी द्रष्टव्य स्थानों के दर्शन किये। लक्ष्मीजी के मन्दिर में वे काफी समय तक बैठी ध्यान किया करती थीं।

पुरुषोत्तम क्षेत्र से १२ जनवरी १८८९ ई. को कलकत्ते लौटकर माताजी एक भक्त के मकान में ठहरीं तथा कुछ दिन बाद कालीघाट जाकर माँ काली के दर्शन किये। फिर स्वामी प्रेमानन्द की भक्तिमती माँ के विशेष अनुरोध पर वे ५ फरवरी को स्वामी विवेकानन्द, योगानन्द, सारदानन्द, प्रेमानन्द तथा मास्टर महाशय को साथ लेकर प्रेमानन्द की जन्मभूमि आँटपुर को गयीं। वहाँ पर लगभग एक सप्ताह निवास करके वे मास्टर महाशय आदि के साथ बैलगाड़ी से तारकेश्वर होती हुई कामारपुकुर लौटीं।

इस बार भी पहले के ही समान बहुत दिन कामारपुकुर में बिताने के पश्चात् भक्तों के सादर आमन्त्रण पर वे पुन: कलकत्ता आयीं तथा उन्हीं लोगों की व्यवस्थानुसार बेलुड़ में गंगातट पर राजू गुमास्ता के किराये के मकान में कुछ काल निवास किया। फिर ४ मार्च १८९० को वे कम्बुलियाटोला में स्थित मास्टर महाशय के मकान में आयीं और २५ मार्च को वहीं से वृद्ध स्वामी अद्वैतानन्द तथा अन्य कुछ लोगों को साथ लेकर उन्होंने गयाधाम की यात्रा की। अपनी जननी के देहान्त के पश्चात् ठाकुर ने माताजी से गया जाकर उनके लिए श्रीविष्णुपादपद्म में पिण्डदान करने को कहा था। इस पर माताजी ने कहा, "पुत्र के रहते मैं क्या पिण्ड दूँगी?" सुनकर ठाकुर बोले, "हाँ जी, ऐसा ही होगा। मेरे लिए क्या वहाँ जाना सम्भव होगा? जाने पर क्या मैं लौटूँगा?" माताजी आशंकित होकर कह उठीं, "तो फिर जाने की जरूरत नहीं।" उस समय ठाकुर की जननी का पिण्डदान नहीं हुआ। इसीलिए उन्होंने इस बार गया जाकर ठाकुर के आदेश का पालन किया।

विष्णु-गया से माताजी सब के साथ बोधगया गयीं। इस प्रसंग में उन्होंने कहा था, "बोधगया में कितना बड़ा मठ है। उनके पास कितनी ही चीजें हैं। कोई अभाव नहीं, कष्ट नहीं। देखकर मैं रोया करती और ठाकुर से कहती, 'ठाकुर, मेरे बच्चों के लिए रहने का स्थान नहीं है। खाने की व्यवस्था नहीं है, वे द्वार द्वार भटक रहे हैं। उनके रहने की यदि ऐसी ही कोई व्यवस्था हो जाती।' सो ठाकुर की इच्छा से मठ बना।"

उस समय ठाकुर के त्यागी सन्तानों को वराहनगर के एक भुतहे मकान में किसी प्रकार सिर रखने मात्र को स्थान हुआ था। अन्न का कोई ठिकाना नहीं था और कठोर तपस्या की पराकाष्ठा चल रही थी। माताजी

की इस प्रार्थना के पश्चात् धीरे धीरे सभी ओर से परिस्थिति में परिवर्तन होने लगा।*

गया से कलकत्ता लौटकर माताजी कुछ दिनों तक मास्टर महाशय तथा बलरामबाबू के मकान में रहीं। बाद में वे बेलुड़ में घुसुड़ी श्मशान के निकट एक किराये के मकान में लगभग चार महीने रहीं। स्वामी विवेकानन्द यहीं माताजी के अजस्र आशीर्वाद मस्तक पर धारण कर परिव्राजक के रूप में निकल पड़े थे। घुसुड़ी के मकान में माताजी को कठिन रक्तातिसार हो गया। अत: उन्हें चिकित्सा के निमित्त वराहनगर में सौरीन्द्रमोहन ठाकुर के किराये के मकान में लाया गया। वराहनगर से वे बलरामबाबू के मकान में आयीं तथा दुर्गापूजा के उपरान्त कामारपुकुर होती हुई जयरामवाटी चली गयीं।

---

* श्रीरामकृष्ण संघ की स्थापना तथा प्रसार के लिए माताजी के प्राणों की आकुलता उनके अन्य समय की बातों से भी व्यक्त होती है। ठाकुर के देहत्याग के पश्चात् यथासमय माताजी उनके असमाप्त कार्य को आगे बढ़ाने के लिए अग्रसर हुईं। उनकी भावधारा का प्रचार करने के लिए वे त्यागी सन्तानो को संघबद्ध करने को कृतसंकल्प हुईं। कोआलपाड़ा के एक संन्यासी से उन्होंने कहा था, "...अहा! इसी के लिए ठाकुर के समक्ष कितना रोयी हूँ, कितनी प्रार्थना की है। तभी तो उनकी कृपा से आज मठ आदि हुए हैं।...ठाकुर के शरीरत्याग के पश्चात् मैं उनसे यह कहकर प्रार्थना करने लगी कि तुम्हारे नाम पर जो लोग घर छोड़कर निकलेंगे उन्हें मोटे अन्न-वस्त्र का अभाव न हो। वे लोग तुम्हें तथा तुम्हारे भाव-उपदेशों को लेकर एकत्र रहेंगे और संसार के तापदग्ध लोग उनके पास आ तुम्हारी बातें सुनकर शान्ति प्राप्त करेंगे। इसीलिए तो तुम्हारा आगमन हुआ है। इन्हें इधर-उधर भटकते देखकर मेरे प्राण व्याकुल हो उठते हैं। उसके बाद नरेन ने धीरे धीरे सब कार्य किया।"

१०. पंचतपानुष्ठान

इस बार माताजी काफी दिन जयरामवाटी रहीं। सम्भवत: १८९३ ई. के आषाढ़ मास में भक्तों के विशेष अनुरोध पर वे पुन: कलकत्ता आयीं। इस बार भी भक्तों ने उन्हें बेलुड़ में नीलाम्बरबाबू के किराये के मकान में रखा। इसी समय उन्होंने पंचतपा या पंचाग्नि-तप का अनुष्ठान किया था।

श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के कुछ ही दिन से माताजी को प्राय: एक दर्शन होता था– दाढ़ीवाले एक संन्यासी दीख पड़ते थे, जो उन्हें बारम्बार पंचतपा का अनुष्ठान करने कहा करते थे। इन्हीं संन्यासी के विशेष आग्रह पर माताजी ने पंचतपा किया था। इस प्रसंग का माताजी के वार्तालाप में उल्लेख मिलता है "(छत के ऊपर) पंचतपा की व्यवस्था हुई। उन दिनों मैं बेलुड़ में नीलाम्बरबाबू के मकान में रहा करती थी। चारों ओर उपले की आग थी तथा ऊपर सूर्य का प्रखर तेज। प्रात:काल (गंगा में) स्नान करके निकट जाकर देखा तो धू धू कर आग जल रही थी। मन में बड़ा ही डर हुआ कि उसके भीतर कैसे जाऊँगी, तथा सूर्यास्त तक कैसे बैठी रहूँगी। फिर ठाकुर का नाम लेकर भीतर जाकर देखा तो अग्नि थी पर उसमें ताप नहीं था। ऐसा सात दिन तक किया। परन्तु बेटा, शरीर का रंग बिल्कुल काला, राख जैसा हो गया। इसके बाद फिर वह संन्यासी नहीं दिखाई दिया।" अब जाकर उनके मन की ज्वाला कुछ शान्त हुई।

माताजी इस विषम अग्निपरीक्षा में उत्तीर्ण हुईं। बाद में जब एक सन्तान ने पूछा, "(पंचतपा आदि) तपस्या की क्या आवश्यकता है?" तो माताजी ने प्रसन्नतापूर्वक कहा था, "बेटा, तपस्या की आवश्यकता है।... पार्वती ने भी तो शिव के लिए की थी।...यह सब

लोगों के लिए है। नहीं तो, लोग कहेंगे कि कहाँ, ये तो साधारण लोगों की ही तरह खाती, पीती और रहती है। फिर पंचतपा आदि स्त्रियों को ही फबते हैं, वे ही इतने कष्ट सहन किया करती हैं न? ठाकुर ने सभी साधनाएँ की थीं, फिर कहा करते थे, 'मैं सांचा बना जाता हूँ, तुम सब उसमें अपना जीवन ढालकर गढ़ लो।' " सन्तान ने प्रश्न किया, "आपको इतना सब करने की क्या आवश्यकता है?" माताजी ने उत्तर दिया, "तुम लोगों के लिए, बेटा। बच्चे क्या इतना कर पाएँगे? इसीलिए करना पड़ता है।" माँ के रूप में उन्होंने सहज मुक्ति की व्यवस्था कर दी। माताजी के जीवन में जो भी कुछ साधन-भजन तथा तपस्या है, वह सब जीव-जगत् के कल्याणार्थ है।



पंचतपा के फलस्वरूप प्राण की ज्वाला शान्त हो जाने पर भी अपने शरीर-धारण का प्रयोजन तब तक उनके समक्ष पूर्ण रूप से प्रगट नहीं हुआ था। उन्हीं दिनों में उन्हें एक अलौकिक दर्शन हुआ जिसके फलस्वरूप वे उक्त प्रयोजन को सम्यक् रूप से समझ सकीं। पूर्णिमा का दिन था। नीलाम्बरबाबू के उद्यान-भवन के सामने से होकर गंगा बही चली जा रही थीं। उद्यान से गंगा तक जाने की सीढ़ी पर बैठी माताजी मुग्ध होकर गंगाजी की अपूर्व शोभा देख रही थीं। अकस्मात् उन्होंने देखा कि श्रीरामकृष्ण पीछे से तेजी से आकर गंगा में उतर गये तथा उनकी चिन्मय देह गंगा में विलीन हो गयी। इस दर्शन से माताजी रोमांचित हो उठीं। वे विस्मित होकर अपलक नेत्रों से देख ही रही थीं कि स्वामी विवेकानन्द प्रगट हुए और "जय रामकृष्ण" "जय रामकृष्ण" कहते हुए दोनों हाथों से वह ब्रह्मवारि लेकर अगणित नर-नारियों के मस्तक पर छिड़कने लगे तथा उस ब्रह्मवारि के स्पर्श से सभी लोग तत्काल मुक्त होने लगे। मुक्तिवारिरूपी श्रीरामकृष्ण! इस दर्शन ने माताजी के मन पर गहरा प्रभाव डाला। कई दिन तक तो

वे गंगा में उतर भी नहीं सकी थीं। कहती थीं, "यह तो ठाकुर की देह है, इसमें पाँव कैसे डालूँ!" इस अलौकिक दर्शन से माताजी के मन में युगावतार की लीला का तात्पर्य पूर्ण रूप से प्रगट हो गया तथा वे यह भी समझ गयीं कि इस दिव्यलीला की पुष्टि के लिए उनके स्वयं के देहधारण की भी एक विशेष सार्थकता है।

चार-पाँच महीने बेलुड़ में कठोर तपश्चर्या में बिताने के बाद माताजी जयरामवाटी गयीं, परन्तु कुछ महीने बाद ही बलरामबाबू की कन्या का देहान्त हो जाने के कारण उनकी शोकसन्तप्त पत्नी कृष्णभाविनी के विशेष अनुरोध पर उन्हें सान्त्वना देने के निमित्त माताजी को पुनः (जनवरी १८९४ ई.) कलकत्ता आना पड़ा तथा उन लोगों के संग कैलवार (बिहार के शहाबाद जिले में स्थित) जाकर दो महीने रहना पड़ा। कोयलवार से लौटने के बाद माताजी पुनः जयरामवाटी गयीं। फिर वहाँ से बेलुड़ आकर वे दुर्गापुजा के पूर्व कुछ महीने तक रहीं।

स्वामी प्रेमानन्द की भक्तिमती माता ने अपने आँटपुर के मकान में कई वर्ष के अन्तराल के पश्चात् उस वर्ष दुर्गापूजा करने का आयोजन किया था। उनके विशेष आग्रह पर माताजी को उस पूजा के उपलक्ष्य में आँटपुर जाना पड़ा। इस घटना का उल्लेख करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका से एक गुरुभाई को लिखा था-"...बाबूराम की माँ की इस बुढ़ापे में बुद्धि नष्ट हो गयी है। जीवन्त दुर्गा को छोड़कर मिट्टी की दुर्गा पूजने बैठी हैं।" पूजा के पश्चात् माताजी आँटपुर से जयरामवाटी चली आयीं।

उसी समय माताजी के मन में अपनी वृद्धा माता को तीर्थदर्शन कराने की इच्छा तीव्र हुई। उन्होंने कलकत्ता आकर तीर्थयात्रा का आयोजन किया तथा अपनी माँ एवं सम्बन्धियों को साथ लेकर काशी, वृन्दावन आदि के दर्शन के लिए प्रस्थान किया। स्वामी योगानन्द, गोलाप-माँ तथा

योगीन-माँ भी उनके साथ चलीं। वृन्दावन में कालाबाबू के कुंज में दो महीने रहकर उन लोगों ने वहाँ के सभी महत्त्वपूर्ण स्थानों का दर्शन किया। तीन महीने में तीर्थयात्रा पूरी करके वे लोग कलकत्ते लौट आये। अपनी माँ तथा अन्य लोगों को जयरामवाटी भेजकर माताजी ने स्वयं मास्टर महाशय (श्री महेन्द्रनाथ गुप्त) के कोलूटोला के मकान में एक महीने तक निवास किया। तदुपरान्त अपनी माँ तथा भाइयों के बुलावे पर उन्हें जयरामवाटी जाना पड़ा। लगभग एक वर्ष बाद वे पुन: कलकत्ता लौटीं। भक्तों ने बाग-बाजार के गोदामवाले मकान में उनके रहने की व्यवस्था की थी। गोपाल की माँ, गोलाप-माँ आदि भक्त महिलाओं के साथ माताजी वहाँ तीसरी मंजिल पर रहा करती थीं। वहाँ से गंगाजी का बड़ा सुन्दर दर्शन होता था। माताजी की सेवा-शुश्रूषा में कोई त्रुटि न होने पाए इस उद्देश्य से स्वामी ब्रह्मानन्द दो-एक ब्रह्मचारी तथा स्वामी योगानन्द के साथ दूसरी मंजिल पर निवास करते थे। उस मकान में पाँच-छह महीने बिताने के पश्चात् कालीपूजा के उपरान्त माताजी जयरामवाटी गयीं। डेढ़ वर्ष बाद १८९८ ई. में जब माताजी पुन: कलकत्ता आयीं तो उन्हें बागबाजार में बोसपाड़ा लेन के एक किराये के मकान में रखा गया।

इसी बीच स्वामी विवेकानन्द पाश्चात्य देशों की यात्रा समाप्त कर भारतवर्ष लौटे। २० फरवरी, १८९७ ई. को वे कलकत्ता आये। ३ फरवरी १८९८ ई. को स्थायी मठ के निर्माणार्थ बेलुड़ में गंगातट पर जमीन खरीदने के लिए बयाना दे दिया गया। उस जमीन के कुछ दक्षिण में नीलाम्बरबाबू का मकान किराये पर लिया गया और मठ अस्थायी रूप से आलमबाजार से वहाँ स्थानान्तरित किया गया। अप्रैल महीने से मठ का निर्माणकार्य तेजी से अग्रसर होने लगा। उसी समय एक दिन माताजी को नाव से मठ में लाया गया। उनके साथ स्वामी योगानन्द, ब्रह्मचारी कृष्णलाल तथा गोलाप-माँ आदि भी आये थे। मठ के इतिहास में यह दिन

विशेष स्मरणीय है। घाट पर नौका आकर लगते ही शंखध्वनि गूँज उठी। माताजी के उतरते ही संन्यासियों ने उनके चरण धोये तथा उन्हें आदरपूर्वक पूजागृह के दालान में बैठाकर पंखा झलने लगे। एक-एक कर सभी ने उन्हें प्रणाम करके उनका आशीर्वाद ग्रहण किया। तत्पश्चात् माताजी ठाकुर की पूजा करने पूजागृह में आयीं। पूजा के अन्त में भोग निवेदित कर, ठाकुर को शयन देने के उपरान्त उन्होंने सब के साथ बैठकर प्रसाद ग्रहण किया। थोड़े विश्राम के पश्चात् उन्होंने ठाकुर को तीसरे पहर का नैवेद्य निवेदित किया। चार बजने के बाद जब माताजी बागबाजार लौटने के लिए प्रस्तुत हो रही थीं, तो ब्रह्मचारी कृष्णलाल ने आकर स्वामी ब्रह्मानन्दजी की प्रार्थना जतायी.. "जाने के पूर्व माँ एक बार मठ की नवीन भूमि पर अपनी चरणधूलि देती जाएँ।" इस प्रार्थना को पूर्ण करने माताजी नाव से नये मठ की जमीन देखने चलीं। स्वामी योगानन्द पैदल चले। भगिनी निवेदिता, श्रीमती बुल तथा मिस मैक्लाउड तब मठ की जमीन में ही निवास कर रहीं थीं। उन्होंने श्रद्धापूर्वक माताजी का स्वागत किया तथा उन्हें सम्पूर्ण जमीन दिखलायी। सब देखकर माताजी के आनन्द की सीमा न रही! उन्होंने अपना आनन्द प्रगट करते हुए कहा, "इतने दिन बाद बच्चों के लिए सिर रखने की एक जगह हुई। ठाकुर ने इतने दिन बाद अपनी कृपादृष्टि फेरी।" सभी पर आशीवार्द की दृष्टि रखती हुई संगियों के साथ नौका पर सवार हो माताजी बागबाजार को चल पड़ीं।



यथाक्रम उस वर्ष की कालीपूजा का दिन (१२ नवम्बर १८९८ ई.) आ पहुँचा। नीलाम्बरबाबू के उद्यान में अवस्थित अस्थायी मठ में संन्यासीवृन्द ने पूजा की समुचित व्यवस्था की। उस दिन स्वामीजी संघजननी को बागबाजार से नवीन मठ-भूमि में ले आये। वहाँ पर माताजी ने अपने नित्यपूजित ठाकुर के चित्र की पूजा की। बेलुड़ मठ में

श्रीरामकृष्णदेव प्रतिष्ठित हुए। बेलुड़ मठ महातीर्थ में परिगत हुआ।

बेलुड़ मठ के इस नवीन स्थान के बारे में माताजी ने कहा था— "परन्तु मैं तो सदा ही देखती रही हूँ कि ठाकुर गंगा पार उस जगह, जहाँ पर अब मठ है, केले के बगीचे आदि के बीच एक मकान में निवास कर रहे हैं।" (तब भी मठ नहीं हुआ था...।) माताजी की इस उक्ति से ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान बेलुड़ मठ का स्थान ठाकुर ने स्वयं ही निर्वाचित किया था। माताजी के इस दिव्य दर्शन के काफी समय बाद मठ के लिए वह जमीन खरीदी गयी थी।

नवीन मठ का निर्माण पूरा हो जाने पर ९ दिसम्बर, १८९८ ई. को स्वामीजी ठाकुर के भस्मावशेष के पात्र को, जिसे वे 'आत्माराम' का पात्र कहा करते थे, नीलाम्बरबाबू के मकान से अपने कन्धे पर वहन करते हुए स्थायी मठ में ले आये और यथाविधि पूजा-होम आदि के साथ उसे वहीं पर स्थापित किया। गृहप्रवेश का कार्य समाप्त हो जाने पर अधिकांश लोग नीलाम्बरबाबू के उद्यान में लौट गये तथा कुछ लोग नवीन मठ में रहे। फिर २ जनवरी, १८९९ ई. को मठ स्थायी रूप से स्थानान्तरित होकर नये स्थान में आ गया। माताजी के मन में जो संकल्प उठा था कि उनके त्यागी सन्तानों के लिए एक स्थायी जगह हो, उस संकल्प ने अब मूर्त रूप लिया।



इसके बाद के तीन-चार वर्ष माताजी कभी जयरामवाटी, कभी कामारपुकुर और कभी कलकत्ते में रहीं। कलकत्ता आने पर वे बागबाजार के किसी किराये के मकान में रहा करती थीं। १९०१ ई. में बेलुड़ मठ में स्वामीजी ने खूब धूमधाम के साथ दुर्गापूजा की। इस अवसर पर "जीवन्त दुर्गा" श्रीसारदादेवी की उपस्थिति अत्यन्त आवश्यक जानकर उन्होने माताजी को उनकी सहचरी तथा सेविकाओं के साथ आमन्त्रित कर १८

से २२ अक्तूबर तक मठ के निकट अवस्थित नीलाम्बरबाबू के उद्यान-भवन में ठहराया। पूजा के समय आनन्दमयी के आगमन से सारा मठ आनन्दोल्लास से परिपूर्ण हो उठा तथा बहुतसे लोग माताजी का दर्शन पाकर धन्य हुए। पूजा का संकल्प माताजी के नाम पर हुआ। इधर 'दीयतां भुज्यतां' तथा 'जय दुर्गामाई की जय' की ध्वनी से गंगा की लहरें तक प्रतिध्वनित हो रही थीं।

११. योगमाया का आश्रय

श्रीरामकृष्ण के अन्तर्धान के पश्चात् श्रीसारदादेवी के लिए अपने अपार्थिव मन को सांसारिक भूमि पर रख पाना असम्भव सा हो रहा था। उनका ऊर्ध्वगामी मन अपने असीम स्वरूप में लीन होने को मानो दौड़ रहा था।* इधर श्रीरामकृष्ण अपने युगकार्य को पूर्ण करने के निमित्त माताजी को नरदेह में रखने का प्रयास कर रहे थे। श्रीसारदादेवी को मर्त्यलोक में रखने के लिए मायिक आधार की आवश्यकता थी। श्रीरामकृष्णदेव ने उसकी ठीक-ठीक व्यवस्था कर दी। माताजी के वार्तालाप के निम्नलिखित अंश से इसका स्पष्ट आभास मिलता है। "...ठाकुर के देहत्याग के पश्चात् इस संसार में कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा था। मन में घोर शोकाग्नि जल रही थी। केवल यही प्रार्थना कर रही थी, 'अब इस संसार में रहकर क्या करूँ?' तभी अचानक क्या देखती हूँ कि लाल साड़ी पहने एक बालिका सामने घूम रही है। ठाकुर उसे दिखाते हुए बोले, 'इसका आश्रय करके रहो। अब तुम्हारे पास कितने ही लड़के आएँगे।' और साथ ही साथ अन्तर्हित हो गये? वह बालिका फिर नहीं दिखाई दी। इसके बाद एक दिन मैं ठीक इसी स्थान पर (जयरामवाटी में) बैठी थी। छोटी बहू (माताजी की भावज सुरबाला) तब बिल्कुल पागल हो चुकी थी। वह

---

* इसके पूर्व हमने विविध स्थानों पर समाधि के द्वारा माताजी के अपने स्वरूप में लीन हो जाने के प्रयास का उल्लेख किया है? बेलुड़ में निवास करते समय उन्हें निर्विकल्प समाधि हुई थी। परन्तु उस समाधि के साथ उनके जीवन का क्या सम्बन्ध था, यह बहुत दिनों बाद उनके वार्तालाप से मालूम हुआ था। एक संन्यासी सन्तान के इस सम्बन्ध में पूछने पर माताजी ने कहा था – "... उन दिनों, लाल ज्योति, नीली ज्योति आदि में मन लीन हुआ करता था। उस भाव में और भी दो- चार दिन रहने पर शरीर चला जाता।"

कुछ कथरियाँ बगल में लेकर खींचती हुई चली जा रही थी और राधू रोते-रोते घुटनों के बल पीछे-पीछे जा रही थी। यह देखकर मेरा हृदय आकुल हो उठा। दौड़कर मैंने राधू को गोद में उठा लिया। .... उसी क्षण ठाकुर सामने प्रकट होकर बोले, 'यही है वह लड़की, इसी का आश्रय लेकर रहो। यह योगमाया है।' "(राधारानी का जन्म २६ जनवरी, १९०० ई. को हुआ था।)

उस समय से लेकर माताजी के नरदेहत्याग तक का योगमाया-आश्रित जीवन अत्यन्त रहस्यमय है। इसी योगमायाका अवलम्बन कर उनका असंसारी मन आदर्श गृहस्थ का जीवन दिखाने के निमित्त मानो संसारी हो उठा था।

माताजी का मायाबद्ध जीवों के समान आचरण देखकर एक संन्यासी सन्तान के मन में सन्देह उत्पन्न हुआ। उन्होंने माताजी से एक-दो बार कहा, "आप इतना 'राधू, राधू' क्यों करती हैं? राधू पर आपकी बड़ी आसक्ति है।" माताजी ने सरलतापूर्वक कहा, "क्या करूँ बेटा, हम औरत की जात ठहरीं, हमारा ऐसा ही है।" इन्हीं संन्यासी ने किसी दूसरे दिन कुछ असन्तोष के स्वर में माताजी से पूछा, "माँ, आपमें इतनी आसक्ति क्यों है? दिन-रात घोर संसारी के समान 'राधी राधी' किया करती है। पर इतने भक्त आ रहे हैं उनकी ओर आप जरा भी ध्यान नहीं देतीं। इतनी आसक्ति! क्या यह सब अच्छा है?" पहले भी माताजी ने ऐसी बातें सुनी थीं और साधारण भाव से उत्तर दिया था। परन्तु सन्तान के कल्याणार्थ उस दिन माताजी का सुर अचानक बदल गया। उन्होंने अपने स्वरूप का आभास देते हुए कुछ दृढ़ स्वर में कहा, "तुम यह सब क्या समझोगे? ... तुम्हें ऐसा और कहाँ मिलेगा? मेरे जैसा एक और ढूँढ़ निकालो तो जानूँ! बात यह है कि जो लोग परमार्थ का बहुत अधिक चिन्तन करते हैं, उनका मन अत्यंत सूक्ष्म तथा शुद्ध हो जाता है। ऐसा

मन जो कुछ भी पकड़ता है, उसे बड़ी दृढ़ता से पकड़ता है। इसीलिए वह आसक्ति जैसा प्रतीत होता है। बिजली जब चमकती है तो खिड़की की काँच से ही दीख पड़ती है, काठ के पल्लों से नहीं।" यह सुनकर उन संन्यासी का भ्रम दूर हुआ। प्रकृति के लीलामंच पर क्षण-क्षण दृश्य-परिवर्तन के समान श्रीसारदादेवी के जीवन मे आलोक एवं अंधकार का यह संयोग बड़ा ही मनोरम है। नित्य और लीला के बीच कितना सहज आवागमन है। सर्वदा नित्य-भूमि में प्रतिष्ठित रहकर मानो वे लीलाभिनय दिखा रही हैं।

किसी दूसरे समय उन्होंने एक भक्त से कहा था—"देखो, सब कहते हैं न कि मैं 'राधू राधू' करती हुई अस्थिर रहती हूँ, उसके ऊपर मेरी बड़ी आसक्ति है। यह थोड़ीसी भी आसक्ति यदि न रहती तो फिर ठाकुर के लीलासंवरण के पश्चात् यह शरीर भी नहीं बचता। अपने कार्य के निमित्त ही (उन्होंने) 'राधी राधी' करवाकर इस शरीर को बचा रखा है। जब उसके ऊपर से मन उठ जाएगा तो फिर देह भी चली जाएगी।" और भी कहा था— "यह जो 'राधी राधी' किया करती हूँ, यह तो (शरीर रखने के लिए) एक मोह लेकर रह रही हूँ।"

राधू अपनी माँ को 'मुण्डी माँ ' और माताजी को 'माँ ' कहकर पुकारती थी। राधू जब बड़ी हुई तो माताजी ने खूब धूमधाम के साथ उसका विवाह किया। फिर उसके एक पुत्र भी हुआ। योगमाया ने अपनी माया का जाल फैलाकर श्रीसारदादेवी के मन को आच्छन्न कर लिया। फिर पगली की बेटी राधू भी अर्धपागल जैसी हो गयी। इससे माताजी के मन में चिन्ता तथा अशान्ति अधिक बढ़ गयी। मानो वे मायापाश में और भी अधिक जकड़ गयीं। इसी बीच राधू ने अफीम खाने की आदत डाल ली थी। अफीम न मिलने से उसका काम नहीं चलता। वह बैठी रहती, खाती-पीती, पर किसी बात में किसी से थोड़ी भी गलती हो जाने पर बड़ा मान-अभिमान

दिखाती। वह माताजी को भी खूब खरी खोटी सुनाती। एक दिन माताजी सब्जी काट रही थीं कि राधू ने आकर अफीम के लिए जिद करना शुरू किया। माताजी ने निरुपाय होकर कहा, "राधी, इतना क्यों तंग करती है? उठ खड़ी हो। अब मुझसे नहीं सहा जाता। तेरे कारण मेरा धर्म-कर्म सब गया।" यह मृदु झिड़की सुनकर राधू नाराज हो गयी और सामने की टोकरी में से एक बड़ा सा बैंगन उठाकर माताजी की पीठ पर जोर से दे मारा। 'धम' की आवाज हुई। साथ ही साथ माताजी की पीठ फूल उठी। उन्होंने ठाकुर के चित्र की ओर देखते हुए हाथ जोड़कर कहा, "ठाकुर, इसके अपराध पर ध्यान न देना, वह अबोध है।" इसके साथ ही वे अपनी चरणधूलि राधू के सिर पर लगाती हुई बोलीं "राधी, इस शरीर को ठाकुर ने भी कभी एक कठोर वाक्य तक नहीं कहा और तू इतना कष्ट दे रही हैं? तू क्या समझेगी कि मेरा स्थान कहाँ है। तुम लोगों को लेकर पड़ी हूँ इसलिए तुम लोग क्या समझती हो, बता तो।" माताजी कहती गयीं – "राधी, यदि मैं रुष्ट हो जाऊँ, तो त्रिभुवन में भी तुझे आश्रय नहीं मिलेगा। ठाकुर, इसका अपराध न मानना।" राधू इस पर जोर से रोने लगी। माँ का मन भी पिघल गया। यह अभिनय अच्छा चला था! माताजी के इस योगमाया-आश्रित जीवन में उनकी अपूर्व सहनशीलता विशेष लक्षणीय है। आगे चलकर हम देखेंगे कि माँ सर्वदा ही क्षमा किये जा रही है। फिर उनकी अनासक्ति भी कैसी अद्भुत है! साथ ही उनके इस योगमाया-आश्रित जीवन में जो दिव्यभाव का पूर्ण विकास दिखाई देता है वह बड़ा ही विस्मयकर है।

राधू का अत्याचार क्रमश: बढ़ता ही जा रहा है, और माताजी का मन भी उससे हटता जा रहा है। स्नेह का स्थान अब धीरे-धीरे एक ओर उदासीनता एवं वैराग्य तथा दूसरी ओर असीम क्षमा लेती जा रही है। एक बार माताजी विष्णुपुर से राधू आदि के साथ बैलगाड़ी में

जयरामवाटी जा रही थीं। कोतलपुर के निकट पहुँचकर राधू माताजी को पाँव से ढ़कलते हुई कहने लगी, "तू हट जा, तू हट जा, तू गाड़ी से उतर जा।" माताजी जितना हो सका गाड़ी के पीछे की ओर खिसकती हुई चली गयीं तथा कहने लगीं, "मैं यदि चली जाऊँ तो तुझे लेकर तपस्या कौन करेगा?" इतना अत्याचार होने पर भी माताजी सब क्षमा ही करती जा रही थीं। एक दूसरे समय जब राधू ने माताजी पर लात चलायी, तो वे घबड़ाकर कहने लगीं, "तूने यह क्या किया राधी, यह क्या किया?" साथ ही अपनी चरणधूलि लेकर राधू के सिर पर लगायी। इस प्रकार उन्होंने अपना "क्षमारूपी तपस्विनी" नाम सार्थक किया था।

पिछले कुछ वर्षों से माताजी का मन धीरे धीरे राधू पर से हटता जा रहा था। राधू बीमारी से कष्ट उठा रही है, रोग दूर नहीं हो रहा है और साथ ही उसका स्वभाव भी चिड़चिड़ा होता जा रहा है – यह सब देखकर एक दिन माताजी दुःख व्यक्त करती हुई कहने लगीं, "राधी पर अब मेरा मन बिल्कुल नहीं बैठता। उसकी बीमारी देखते देखते मेरा जी ऊब गया है। मन को जबरन खींचकर रखती हूँ। कहती हूँ, 'ठाकुर, राधी पर जरा मन ठहराओ, नहीं तो उसे कौन देखेगा?' "

राधी का अवलम्बन लेकर विविध उपायों से माताजी अपना मन नीचे उतार रखना चाहती थीं, परन्तु उनका मन मानो अब इस संसार में रहने को तैयार नहीं था। माताजी ने राधू को सदुपदेश तथा शिक्षाएँ दी थीं पर उस छोटेसे आधार में उसे धारण करने की शक्ति नहीं थी। माताजी का अपार्थिव स्नेह उसके स्वभाव में कोमलता न लाकर उसमें उद्दण्डता तथा अहंकार की ही वृद्धि कर रहा था। बाद में वह माताजी का अपमान करने लगी, उन्हें गालियाँ बकने लगी, यहाँ तक कि उनके श्रीअंग पर हाथ या पैर से आघात तक किया। राधू के स्वभाव की इस परिणति को देखकर माताजी ने एक दिन दुःख प्रकट करते हुए कहा था,

"राधी, तू सिंहनी का दूध पीकर भी सियारिन ही रह गयी। मैंने जो इतना श्रम करके तुझे बड़ा किया, पर तूने मेरा भाव बिल्कुल भी ग्रहण नहीं किया!" यह सुनकर राधू नाराज हो गयी तथा घूँघट खींचकर चेहरा फेरे बड़बड़ाने लगी।

भक्तों ने सुन रखा था कि माताजी का मन जिस दिन राधू पर से हट जाएगा, उस दिन से माताजी के उर्ध्वगामी चित्त को इस संसार में बाँध रखने का दूसरा कोई भी उपाय नहीं रह जाएगा। उस दिन लीलामयी की लीला समाप्त हो जाएगी। ठाकुर के अचिन्त्य विधान से वह स्नेह-शृंखला धीरे धीरे अपने आप ही शिथिल होती जा रही थी। राधू के ऊपर माताजी का स्नेह तथा आसक्ति इतनी अधिक थी कि उसमें थोड़ा भी व्यतिक्रम अकल्पनीय था। इसीलिए सभी लोग मौन विस्मय के साथ उस चरम परिणति की प्रतीक्षा कर रहे थे।

जीवों के इष्टलोक-गमन में सहायता करने के लिए ही श्रीसारदादेवी का देहधारण तथा जगत् में अवस्थान हुआ था। धीरे धीरे सम्पूर्ण माया को विच्छिन्न कर उन्होंने अपना मन सच्चिदानन्द में स्थिर कर लिया है। अब माताजी माया के अतीत राज्य की ओर चली जा रही हैं। इसीलिए तो स्वेच्छया गृहीत सारे बन्धन एक एक कर दूर होते जा रहे हैं।

१२. भक्तजननी

श्रीरामकृष्ण का जीवन मानो आँखों में चकाचौंध पैदा करनेवाला एक तीव्र आलोक है। इसीलिए वे अपने साथ एक ऐसा जीवन भी ले आये थे, जो साधारण जनों की पहुँच में हो। श्रीरामकृष्ण विषयी लोगों की हवा तक सहन नहीं कर पाते थे। उनकी छाया से भी वे दूर रहते थे। अपना सम्पूर्ण जीवन उन्होंने मन्दिर के प्रांगण में देवी-देवताओं के संग बिताया। पर माताजी एक ओर जहाँ श्रीरामकृष्णसदृश देवता के साथ रहतीं, निर्विकल्प समाधि में लीन हो जाया करतीं, एवं भावावेश में हँसतीं-रोतीं; वहीं दूसरी ओर अपने स्वजन-सम्बन्धियों, पागल-पगलियों तथा पास-पड़ोस के लोगों की आनन्दपूर्वक सेवा-सत्कार भी किया करतीं। तरह-तरह के लोगों के बीच रहती हुई वे निर्विकार भाव से जीवनयापन करती थीं। फिर वे माँ गंगा के समान सभी को पवित्र कर देती थीं, धन्य कर देती थीं। कल्याणमयी के स्पर्श से सब का इहलौकिक तथा पारलौकिक कल्याण होता था। श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग पार्षद स्वामी प्रेमानन्द का कथन है – "तुम लोग देख आये न कि किस प्रकार राजराजेश्वरी स्वेच्छापूर्वक अत्यन्त दीन रमणी का वेश धारण कर घर झाड़ रही हैं, बर्तन माँज रही हैं, यहाँ तक कि भक्त-सन्तानों की जूठन उठा रही हैं। माँ ने जयरामवाटी में रहकर गृहस्थों को गार्हस्थ्य-धर्म सिखाने के निमित्त ही इतना कष्ट उठाया है। असीम धैर्य, अपरिमित करुणा और सर्वोपरि है उनकी पूर्णरूपेण निरहंकारिता।"

इधर श्रीरामकृष्णदेव हैं एक आदर्श संन्यासी और उधर श्रीसारदादेवी के जीवन में मिलता है – संन्यास तथा गार्हस्थ्य का अपूर्व सम्मिश्रण। ठाकुर पैसों का स्पर्श तक नहीं कर पाते थे, हाथ टेढ़ा हो जाया करता था। माताजी पैसों को लक्ष्मी मानकर सिर-माथे से लगा रही हैं। अर्थ सभी

अनर्थों का मूल है यह वे ठाकुर के ही समान खूब अच्छी तरह जानती हैं। ठाकुर की दृष्टि में सब कुछ मिथ्या है—सारा संसार ही मिथ्या है। किन्तु माताजी ऐसा व्यवहार करती हैं कि उनकी दृष्टि में मानो सब सत्य है। दोनों के ही जीवन परस्परविरोधी जैसे प्रतीत होते हुए भी एक-दूसरे के परिपूरक हैं। एक मानो वेद है और दूसरा भाष्य। फिर दोनों ही मानो असीम के राज्य में पास-पास बैठे हुए हैं। श्रीसारदादेवी अपने आदर्श जीवन के द्वारा दिखा गयी हैं कि 'अद्वैत ज्ञान को आँचल में बाँधकर' संसार में कैसे रहना चाहिए।



जयरामवाटी में भक्तों का समागम क्रमश: बढ़ता जा रहा है। जयरामवाटी महातीर्थ की महिमा यात्रियों की "जय माँ" ध्वनि के साथ गुंजायमान हो रही है। महाशक्ति के एक अप्रतिहत आकर्षण से खिंचकर संन्यासी-गृही, पुरुष-नारी दूर-दूरान्तर से, देश-देशान्तर से चले आ रहे हैं। बहुत पूर्व श्यामसुन्दरी देवी से श्रीरामकृष्ण ने जो भविष्यवाणी कही थी वह अब अक्षरश: सत्य सिद्ध हो रही थी। श्रीसारदादेवी की सन्तानों की संख्या बढ़ती ही जा रही थी। एक-दो सन्तानों की माँ होने पर क्या वे विश्वजननी हो पाती? सभी को क्या उनकी स्नेहमय गोद में स्थान मिल पाता? अब जो कोई भी सारदादेवी के पास आ रहा है, उन्हें माँ के रूप में पा रहा है। फिर गुरु के रूप में वे सैकड़ों-हजारों पंगु सन्तानों को दुस्तर भवसागर से पार लिये जा रही हैं। उनके जीवन में मातृत्व तथा देवीत्व का अद्‌भुत अपूर्व संम्मिश्रण है।

एक दिन माताजी एक आश्रित सन्तान से कह रही थी, "ठाकुर इस बार धनी-निर्धन, पण्डित-मूर्ख सभी का उद्धार करने आये हैं। मलय पवन खूब बह रही है। जो भी थोड़ासा पाल तान देगा, शरणागत होगा, वही धन्य हो जाएगा। इस बार बाँस और घास को छोड़कर जिसके भी

भीतर थोड़ा सार है, वह चन्दन हो जाएगा। तुम्हें चिन्ता क्या है?" श्रीरामकृष्ण के इस जीवोद्धार का कार्यभार श्रीसारदादेवी पर न्यस्त था। इसीलिए वे बिना भेदभाव के जीवोद्धार करने लगीं। जो भी "माँ "कहकर आ खड़ा हुआ, उसी को वे कृपापूर्वक ठाकुर के अभयचरणों में अर्पित करने लगीं। एक दीक्षित सन्तान ने जप-ध्यान न कर पाने के कारण दुःख व्यक्त किया। तुरन्त ही माताजी द्रवित होकर उसे अभय देती हुई बोलीं, " इस समय चाहे जो भी हो, अन्त में तो ठाकुर को आना ही होगा। वे स्वयं ही कह गये हैं। उनके मुख की बात क्या निष्फल जाएगी? तुम लोग सदा स्मरण रखना– तुम्हारे पीछे कोई एक है।"



उन दिनों जयरामवाटी एक अज्ञात ग्राम था। वहाँ जाना बड़ा कष्टसाध्य था तथा वहाँ जाने में काफी धन और समय का व्यय होता था। फिर भी भक्तगण माताजी से घनिष्ठतापूर्वक मिलने तथा उनकी कृपा पाने के लिए जयरामवाटी आया करते थे। माताजी अपनी सभी सन्तानों को सेवा एवं स्नेह के द्वारा और भी अपना बना लेती थीं। एक दिन एक संन्यासी सन्तान भोजन के उपरान्त अपनी जूठन उठाने लगे तो माताजी ने उन्हें मना करते हुए थाली अपने हाथ में ले ली। यह देखकर साधु बोले, "आप क्यों? मैं ही ले जाता हूँ।" इस पर माताजी ने कहा, "मैं तुम्हारे लिए ऐसा क्या कर रही हूँ बेटा! माँ की गोद में बच्चा टट्टी-पेशाब करता है और भी क्या क्या करता है! तुम लोग तो मेरे देवदुर्लभ धन हो।"

एक दूसरे दिन माताजी को सब की जूठन साफ करते देखकर एक आत्मीय ब्राह्मणकन्या विस्मय प्रगट करती हुई बोल उठी– "हाय माँ, ये तो छत्तीसों जात की जूठन उठा रही हैं!" सुनकर माताजी ने कहा, "छत्तीस कहाँ? सब तो मेरे ही हैं।" जो सभी को अपनी सन्तान के रूप में देखती हैं, उनमें सामाजिक जातिभेद का स्थान ही कहाँ है?

एक सन्तान ने पूछा "तुम किस तरह की माँ हो?" माताजी ने तत्काल उत्तर दिया, "मैं सचमुच की माँ हूँ। गुरुपत्नी नहीं, मानी हुई माँ नहीं, कहने भर की माँ नहीं– यथार्थ जननी हूँ।" एक बार किसी सन्तान ने प्रश्न किया, "तुम क्या सभी की माँ हो? पशु-पक्षी, कीट-पतंग– इन सब जीव-जन्तुओं की भी?" माताजी ने तत्काल स्पष्ट उत्तर दिया, "हाँ, उनकी भी।" विश्वजननी सारदादेवी का यही यथार्थ स्वरूप है।

माताजी के मकान में उनके संग जो अन्य महिलाएँ रहा करती थीं, वे स्वयं तो किसी की जूठन उठाती ही न थीं, अपितु माताजी पर अभियोग लगाती हुई कहतीं, "एक तो तुम ब्राह्मण की बेटी हो, दूसरे गुरु हो– ये तुम्हारे शिष्य हैं। तुम इनकी जूठन क्यों उठाती हो? इससे तो उनका ही अमंगल होगा।" माताजी अत्यन्त सहजता से उत्तर देतीं, "अरी मैं इनकी माँ जो हूँ! माँ बच्चे के लिए न करे तो कौन करे?"

एक भक्त जाति का 'युगी' था। अत: उसे माताजी के घर चलने-फिरने में बड़ा संकोच होता था। एक दिन माताजी ने उससे कहा, "तुम युगी होने के कारण संकोच करते हो? इसमें क्या है बेटा? तुम ठाकुर के गण हो– घर के बच्चे घर आये हो?" एक बार महाष्टमी के दिन भक्तगण श्रीमाँ के चरणों में पुष्पांजलि दे रहे थे। एक व्यक्ति बाहर खड़ा था। पता चला कि वह जाति का बागदी है और ताजपुर का रहनेवाला है। माताजी ने उसे भी बुलाकर अपने चरणों में पुष्पांजलि देने कहा। वह चरण-पूजा करके आनन्दपूर्वक लौट गया।

इतनी सन्तानें पाकर भी मानो माताजी को तृप्ती नहीं हो रही थी। बीच-बीच में उनके श्रीमुख से मन्द स्वर में सुन पड़ता– "मेरे बच्चो, तुम लोग आओ।" एक बार स्वामी विश्वेश्वरानन्द के जयरामबाटी पहुँचते ही माताजी ने साग्रह कहा, "तुम आ गये, अच्छा किया! मैं कई दिनों से तुम्हें पुकार रही थी।– राजेन को पुकारने के बदले तुम्हारा ही नाम

लेकर पुकार रही थी।" माताजी के मुख से उनकी आकुलता की बात सुनकर सन्तान अभिभूत हो उठे।

कोई भी मनुष्य पूर्णतया निर्दोष नहीं है, यह जानकर वे सन्तानों को समान रूप से स्वीकार किया करती थीं। दुर्जन की संगति से दु:ख होता है यह वे जानती थीं। परन्तु वे माँ होकर सन्तान को कैसे लौटाएँ? पाप-ताप के बोझ से लदे हुए सैकड़ों भक्त आते और माताजी का चरण-स्पर्श करते। इसी स्पर्श के माध्यम से माताजी उनके पाप ग्रहण कर लेतीं। इसके फलस्वरूप उनके पैरों में असह्य जलन हुआ करती! परन्तु वे मौन रहकर उसे सहन कर लेतीं। दर्शनार्थियों का प्रणाम हो जाने के पश्चात् के दिन सन्ध्या समय सेवक सन्तान ने देखा कि माताजी बरामदे में आकर घुटने तक पैर धो रही हैं। पूछने पर उन्होंने कहा, "अब और किसी को पैरों पर सिर रखकर प्रणाम मत करने देना, कितना पाप आ घुसता है, और पैरों में जलन होती है, पैर धोने पड़ते हैं। इसीलिए तो बीमारी है। दूर से प्रणाम करने कहना।" यह कहकर वे तुरन्त ही पुन: बोली, "ये सब बातें शरत् (स्वामी सारदानन्द) से न कहना, नहीं तो वह प्रणाम करना बन्द कर देगा।" निदान, उनका जीवत्राण का कार्य इसी भाँति चल रहा था।

माताजी ने कहा था, "दया के कारण मन्त्र देती हूँ। वे छोड़ते नहीं, रोते हैं, अत: देखकर दया आ जाती है और कृपा करके मन्त्र देती हूँ। नहीं तो इसमें मेरा क्या लाभ है? मन्त्र देने पर उनका पाप ग्रहण करना पड़ता है। सोचती हूँ कि शरीर तो जाने ही वाला है, फिर इनका भला क्यों न हो!" कोआलपाड़ा मठ के एक भक्त ने बातों के प्रसंग में माताजी से कहा, "भक्तों के स्पर्श से जब कष्ट होता है, तो स्पर्श न करने देना ही उचित है।" इस पर माताजी बोलीं, "नहीं बेटा, हम लोग तो इसी के लिए आये हैं। हम ही यदि पाप-ताप ग्रहण न करें, हजम न करें, तो भला करेगा ही कौन? पापी-तापियों का भार दूसरा कौन सहन करेगा?"

कृपामूर्ति माताजी अपने स्वास्थ्य की ओर ध्यान न देकर अयाचित रूप से कृपा-वितरण किये जा रही थीं। जयरामवाटी में एक बार मलेरिया से उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था, जिसके कारण स्वामी सारदानन्दजी की व्यवस्थानुसार दर्शन तथा दीक्षा देना आदि थोड़े दिनों के लिए बन्द रहा। उस समय बरीसाल (अब बंगलादेश में) से दीक्षा के लिए एक भक्त आ पहुँचे। सेवक ने अपना कर्तव्य-पालन करते हुए उन्हें दर्शन व दीक्षा से निवृत्त करने का प्रयास किया, परन्तु भक्त की एक ही टेक थी – "मैं माँ के दर्शन करूँगा और उनसे दीक्षा लूँगा।" सेवक तथा दीक्षार्थी का वार्तालाप क्रमशः तर्क-वितर्क वाद-विवाद में परिणत हुआ। आवाज सुनकर माताजी अस्त-व्यस्त अवस्था में ही मुख्य द्वार पर चली आयीं और सेवक से बोलीं, "तुम उसे आने से क्यों मना कर रहे हो?" सेवक ने विनयपूर्वक उत्तर दिया, "शरद् महाराज ने मना जो किया है।" माताजी बोलीं, "शरद् क्या कहेगा? हम लोगों का इसीलिए तो आना हुआ है। मैं उसे दीक्षा दूँगी।" भक्त के प्रणाम करने पर माताजी ने उसे स्नेहपूर्वक कहा, "बेटा, आज तुम खा-पीकर आराम करो, कल मैं तुम्हें दीक्षा दूँगी।" अगले दिन माताजी ने बुखार की हालत में ही भक्त को दीक्षा दी। करुणामयी माँ इसी प्रकार अहैतुक कृपा किया करती थीं।

बागबाजार में अपने भवन में अन्तिम बीमारी के समय उन्होंने एक भक्त को निराश होने से मना करते हुए कहा था, "तुम लोग सोचते क्या हो, यदि ठाकुर इस शरीर को न रहने दें, तो भी जिनका भार मैं ले चुकी हूँ, उनमें से एक के भी (मुक्त होने से) बाकी रहते क्या मेरी छुट्टी है? उनके भले-बुरे का भार जो लिया है, अतः उनके साथ रहना होगा। मन्त्र देना क्या केवल दो-चार शब्द बोल देना मात्र है! कन्धे पर कितना बोझ लेना पड़ता है। उनके लिए कितनी चिन्ता करनी पड़ती है।" अन्तिम दिनों में माताजी लगभग सारी रात ही जप करते हुए बिताया करती थीं! एक बार सेवक ने विस्मित होकर पूछा, " आप क्या सोती नहीं हैं– या फिर

नींद ही नहीं आती?" माँ ने उत्तर दिया, "क्या करूँ बेटा? बच्चे सब व्याकुल होकर आ पकड़ते हैं, हठ करके दीक्षा ले जाते हैं, परन्तु नियमित रूप से जप-ध्यान तो करते नहीं। नियमित रूप से ही क्यों, कोई तो कुछ भी नहीं करते। तो भी जब भार लिया है, तो मुझे उनको देखना ही होगा! इसीलिए जप करती हूँ, और ठाकुर से उनके लिए प्रार्थना करती हूँ, 'हे ठाकुर, उन्हें चैतन्य दो, मुक्ति दो, उनका इहकाल-परकाल सब तुम्हीं देखो। इस संसार में बड़ा दुःख-कष्ट है। उन्हें फिर न आना पड़े।'"

एक भक्त को अभय तथा आश्वासन देते हुए माताजी ने कहा था – "तुम्हें चिन्ता क्या है बेटा, तुम्हारी याद मुझे खूब रहती है। तुम्हें कुछ भी नहीं करना होगा, तुम्हारे लिए मैं स्वयं ही कर रही हूँ।" भक्त ने पूछा, "तुम्हारे जहाँ कहीं भी जितने भी बच्चे हैं, उन सभी के लिए क्या तुम्हीं को करना पड़ता है?" माताजी ने उत्तर दिया, "हाँ, सभी के लिए मुझी को करना पड़ता है।" भक्त ने पुनः पूछा, "तुम्हारे इतने सारे बच्चे हैं, क्या तुम्हें सभी की याद रहती है?" माताजी ने पहले तो कहा कि सभी की हर समय याद नहीं रहती फिर बाद में यह बात ठीक से समझाते हुए कहा – "जिस जिस की याद आती है, उसके लिए जप करती हूँ और जिनकी याद नहीं आती, उनके लिए ठाकुर से यह कहते हुए प्रार्थना करती हूँ, 'ठाकुर, मेरे अनेक बच्चे अनेक स्थानों पर हैं, उनके नाम का मुझे स्मरण नहीं, तुम उन्हें देखना और उनका कल्याण करना।' "

एक दिन एक संन्यासी-सन्तान ने माताजी से एक अत्यन्त बचकानी बात कही – इतने भक्तों में से हर एक के व्यक्तिगत कल्याण के लिए प्रार्थना करना जब सम्भव नहीं है, तो इतने भक्तों को दीक्षा न देना ही उचित है। सुनकर माताजी बोली – "इसके लिए ठाकुर ने तो मुझे मना नहीं किया। उन्होंने मुझे इतना सब बताया, फिर आवश्यकता होती तो क्या यह बात नहीं कहते? मैं ठाकुर के ऊपर भार सौंप दिया

करती हूँ। उन्हें हर रोज कहती हूँ, 'जो जहाँ भी है, तुम देखना।' और बात क्या है जानते हो? ये सब ठाकुर के दिये हुए मन्त्र हैं। उन्होंने मुझे सिद्ध मन्त्र दिये थे।... सिद्ध मन्त्र में विशेष बात यह होती है कि जिसे वह प्राप्त होता है उसका इष्टदर्शन हुए बिना शरीरत्याग नहीं होता (अर्थात् यही उसका अन्तिम जन्म होता है)। कम से कम अन्त-समय तो इष्टदर्शन होगा ही।... (शिष्य के आध्यात्मिक कल्याण के लिए) मुझे जो कुछ करने का है, वह मैं मन्त्र देते समय ही कर देती हूँ।" – अर्थात् शिष्य का कल्याण केवल गुरु के स्मरण रखने पर ही निर्भर नहीं रहता, मन्त्र की भी अपनी शक्ति होती है। माताजी के मुख से मन्त्रदान का गूढ़ अर्थ सुनकर शिष्य मौन विस्मय में सिर झुकाये रह गया।

मन्त्रशक्ति तथा शिष्य के पापग्रहण के सम्बन्ध में माताजी ने किसी दूसरे समय एक संन्यासी-सन्तान से कहा था –"मन्त्र के भीतर से होकर शक्ति जाती है। गुरु की शक्ति शिष्य में जाती है। शिष्य का (पाप-ताप) गुरु में आता है। इसीलिए तो मन्त्र देने पर (शिष्य के) पाप लेने से (गुरु की) देह में इतनी व्याधियाँ होती हैं।" शिष्य के पाप ग्रहण कर स्वयं कष्ट भोग करने पर भी उसके प्रति माताजी की दृष्टि स्नेह तथा ममता से पूर्ण ही रहा करती थी। माताजी ने एक भक्त को अभय देते हुए कहा था, "भय क्या है बेटा! सर्वदा ही समझना कि ठाकुर तुम लोगों के पीछे हैं। मैं हूँ, मुझ जैसी माँ के रहते भय कैसा? ठाकुर कह गये हैं न, 'जो लोग तुम्हारे पास आएँगे, मैं अन्तकाल में आकर हाथ पकड़कर ले जाऊँगा।' जिसकी जो खुशी हो करे, जिसकी जैसी खुशी हो चले, ठाकुर को अन्त में तुम लोगों को लेने आना ही पड़ेगा। ईश्वर ने हाथ-पाँव (इन्द्रिय आदि) दिये हैं, वे सब तो अपना-अपना खेल दिखाएँगे ही।" पतितोद्धारिणी माँ ने अपनी अबाध कृपा-वितरण का कारण प्रकट करते हुए कहा ही था – "ठाकुर क्या इस बार केवल रसगुल्ले खाने आये थे?" अस्तु।

श्रीसारदादेवी के मातृत्व से मनुष्येतर प्राणी भी वंचित नहीं रहे थे। राधारानी ने एक बिल्ली पाली थी, जिसके लिए माताजी ने एक पाव दूध का बन्दोबस्त कर रखा था। वह बिल्ली निर्भय होकर माताजी के चरणों के पास पड़ी रहती थी। दूसरों के सन्तोष के निमित्त जब माँ कभी हाथ में लाठी लेकर बिल्ली को भगाने जातीं तो वह उनके चरणों में लोटने लगती। तब माँ लाठी फेंक देतीं और यह सब देखकर दूसरे लोग हँस पड़ते। उस बिल्ली को चोरी करके खाने की आदत थी। परन्तु माँ इस पर नाराज न होकर कहतीं, "चोरी करना तो उनका स्वभाव ही है बेटा, उन्हें कौन भला प्रेम से खाने को देता है?" परन्तु ब्रह्मचारी ज्ञान बिल्ली के चोरी करके खाने को किसी भी हालत में क्षमा नहीं करते थे। एक दिन उन्होंने नाराज होकर बिल्ली को उठाकर पटक दिया। यह देखकर माँ का मुखमण्डल वेदना से पूर्ण हो गया। वे सिर झुकाकर मौन खड़ी रहीं, परन्तु ब्रह्मचारी से कुछ भी नहीं कहा। कुछ दिनों बाद माताजी का कलकत्ता जाने का दिन आया। उस समय उन्होंने ब्रह्मचारी ज्ञान को बुलाकर कहा, "ज्ञान, बिल्लियों का ध्यान रखना। कहीं वे भूख से त्रस्त होकर दूसरों के घर न जाएँ। वे लोग गालियाँ देंगे बेटा!" कुछ देर बाद वे पुनः बोली, "देखो ज्ञान, बिल्लियों को मत मारना। मैं उनके भीतर भी तो हूँ।" माताजी की यह बात सुनने के पश्चात् ज्ञान महाराज ने बिल्लियों को फिर कभी नहीं मारा और उनके भरपूर खाने की व्यवस्था कर देने लगे।



प्रबल इच्छा रहने पर भी अनेक भक्त जयरामवाटी नहीं जा पाते थे। अतः माताजी अनेक प्रकार की असुविधाएँ सहन करते हुए भी बीच बीच में कलकत्ता आकर कभी किसी भक्तगृह में, कभी किसी किराये के मकान में रहा करती थीं। बाद में देश भर में युगावतार की महिमा तथा उदार भाव जितना ही फैलने लगा उतना ही माताजी के पास भक्तसन्तानों

का आगमन बढ़ने लगा – माताजी के चरण-दर्शनार्थ तथा उनकी कृपा पाने को समग्र भारत के लोग आने लगे।

माताजी के कलकत्ता निवास की असुविधा को दूर करने के लिए स्वामी सारदानन्द के अक्लान्त परिश्रम तथा प्रयास के फलस्वरूप बागबाजार में एक मकान निर्मित हुआ (वर्तमान उद्बोधन कार्यालय)। २३ मई, १९०९ ई. को माताजी ने इस नवीन भवन में पदार्पण किया तथा अपने हाथों वहाँ ठाकुर की स्थापना की। वे प्राय: आकर उस मकान में रहा करती थीं। स्वामी सारदानन्द माताजी की अत्यन्त भक्तिपूर्वक सेवा करते थे। उनकी सेवा पर सन्तुष्ट होकर माताजी उन्हें अपना "भारवाहक" या "वासुकी" कहा करती थीं।

बागबाजार के माँ के भवन में कितना जप-ध्यान, कितनी भाव-समाधियाँ आदि हो चुकी हैं! कितने ही लोग माताजी से मुक्तिमन्त्र पाकर धन्य हो चुके हैं। इस बार बागबाजार के नवीन भवन में लगभग छह-सात महीने रहकर माताजी शीतकाल के प्रारम्भ में जयरामवाटी गयीं।

१३. आदर्श नारी

माताजी का दैनन्दिन जीवन अनुपम था। वे सर्वदा कुछ न कुछ काम करती ही रहती थीं। आलस्य में अथवा व्यर्थ की चर्चा में समय गँवाते उन्हें कभी नहीं देखा गया। प्रतिदिन रात में लगभग तीन बजे उठ जाना दक्षिणेश्वर के दिनों से ही उनका अभ्यास था। अस्वस्थ होने पर भी शायद ही कभी इस नियम में व्यतिक्रम होता हो। उठते ही पहले वे ठाकुर के दर्शन करतीं और सभी देवी-देवताओं को प्रणाम करतीं। फिर नित्यकर्म आदि से निपटकर, ठाकुर को शयन से उठातीं और स्वयं जप करने बैठतीं। प्रभात होने पर अपने ही हाथों पूजा की सारी व्यवस्था करके, वे आठ बजे के पूर्व ही पूजा में बैठ जातीं। पूजा समाप्त करने के पश्चात् वे फल-मिष्टान्न आदि प्रसाद पत्तलों में सजाकर साधु एवं भक्तसन्तानों के लिए भेज देती थीं। इसके साथ ही साथ भक्तसमागम, दर्शनदान, दीक्षादान, धर्मोपदेश तथा शोकपीड़ितों को सान्त्वना आदि का कार्य चलता रहता था। माताजी की पित्तप्रकृति थी, इसलिए वे औषधि तथा पथ्य के रूप में थोड़ासा प्रसादी मिश्री का शरबत लिया करती थीं। किसी किसी दिन उसके साथ थोड़ेसे सूखे मुरमुरे भी ले लेती थीं।

माताजी की पूजा आदि देखकर स्पष्ट रूप से प्रतीत होता था, मानो वे जीवन्त देवी-देवताओं के साथ ये सब व्यवहार सम्पन्न कर रही हैं। भोग के कमरे में भोग सजा लेने के बाद वे सभी देवी-देवताओं को पूजाकक्ष से पुकारकर वहाँ ले आतीं। लज्जाशील वधू के समान ठाकुर के चित्र के निकट जाकर कहतीं, "चलो, खाने चलो।" फिर बालगोपाल-विग्रह के पास जाकर कहतीं, "चलो गोपाल, खाने चलो।" इसी प्रकार जब सभी देवतोओं को भोजन के लिए बुलाकर वे भोग के कमरे की ओर चलने लगतीं, तो उनका भाव देखकर ऐसा लगता मानो-सचमुच ही सभी

देवता उनके साथ भोग ग्रहण करने जा रहे हों। वह दृश्य अपार्थिव प्रतीत होता। कभी प्रमादी मिठाई समाप्त हो गयी है, पर भक्तों को प्रमाद देना है; माताजी शीघ्रतापूर्वक ठाकुर के चित्र के समक्ष मिठाई का द्रोण हाथ में लिये हुए कह रही हैं – "ठाकुर, खा लो।" यह दृश्य जो कोई देखता, उसके हृदय में एक अभिनव भाव स्पन्दित होने लगता। माताजी कहा करती थीं – "छाया काया समान हैं।" 'छाया' अर्थात् चित्र उनकी दृष्टि में सदैव दिव्यकाया के रूप में प्रतिभासित होता था। जयरामवाटी में माताजी अत्यन्त व्यस्त रहा करती थीं। भक्तों की देखभाल करना, प्रातःकाल सब्जी काटना, भण्डार से सामग्री निकालना, पूजा की व्यवस्था करना, फिर स्वयं ही पूजा करना, पूजा के उपरान्त साधुभक्तों में प्रसाद बाँटना, कम से कम सौ बीड़े पान सजाना, शाम को अपने ही हाथों आटा सानकर रोटी, पूरी आदि बनाना, दूध उबालना, कभी-कभी भोग के निमित्त दो-एक सब्जी पकाना, लालटेन साफ करना, झाड़ू लगाना आदि सारे कार्य वे बड़े प्रेम से किये जाती थीं। घर में दूसरे लोगों के होने पर भी मानो सभी कार्य उन्हीं के थे, वे किसी से कोई अपेक्षा नहीं रखती थीं। कहा करती थीं – "यह ठाकुर की गृहस्थी है। उन्हीं का संसार है। सब कार्य उन्हीं की सेवा है।" इधर स्वास्थ्य बिगड़ता जा रहा था, और कार्य भी क्रमशः बढ़ता जा रहा था। माताजी का निरवच्छिन्न सेवामय जीवन संन्यासी व गृही भक्तों के मन में निरन्तर प्रेरणा की ज्योति प्रज्वलित रखता था।

अव्यवस्था वे बिल्कुल भी नहीं सह पाती थीं। छोटी-मोटी चीजों पर भी उनकी तीक्ष्ण दृष्टि रहा करती थी। एक दिन जयरामवाटी में गृहकार्य में लगी एक महिला ने आँगन झाड़ने के बाद झाड़ू को फेंक दिया। इसे देखकर माताजी ने थोड़ी अप्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा, "यह क्या है री! काम हो गया, इसलिए क्या झाड़ू को ऐसे उठाकर फेंक देना चाहिए?

झाड़ू को भी सम्मान देना चाहिए – छोटी चीज का भी अपमान करना उचित नहीं। साधारण कार्य भी श्रद्धापूर्वक करना चाहिए; छोटी चीज को भी तुच्छता की दृष्टि से नहीं देखना।" माताजी का यह उपदेश सुनकर उन महिला का सिर झुका ही रह गया।

माताजी अपने दैनन्दिन कार्यों के माध्यम से साधु-भक्तों का जीवन भी नियन्त्रित किया करती थीं। मठ के कुछ साधु तपस्या के लिए जा रहे हैं, यह सुनकर एक संन्यासी ने माताजी के पास आकर कहा, "इस प्रकार कर्म के बीच (बद्ध) रहना अब अच्छा नहीं लगता। मैं भी तपस्या करने जाऊँगा, आप अनुमति दीजिए।" यह सुनकर माताजी ने कहा, "यह क्या है बेटा! मेरा कार्य कर रहे हो, ठाकुर का कार्य कर रहे हो, यह क्या तपस्या से कम हो रहा है? यह सब छोड़कर व्यर्थ समय नष्ट करने कहाँ जाओगे?" ऐसे अनेक उपदेश देकर उन्होंने उन संन्यासी को तपस्या के लिए नहीं जाने दिया।

माताजी अपव्यय या किसी चीज़ की बरबादी बिल्कुल पसन्द नहीं करती थीं। एक भक्त प्रति शनिवार को जयरामवाटी आया करते थे। माताजी उनके लिए भोजन रख दिया करती थीं। एक शनिवार को उनके आनेपर माताजी ने उन्हें काफी परिमाण में खिचड़ी खांने दी। भक्त ने थोड़ा खाया और बाकी फेंक देने को उठें। यह देखकर माताजी ने कहा, "बेटा, इतनी अच्छी खिचड़ी फेंक न देना"। और पड़ोस के मकान से एक सद्गोप लड़की को बुला लाने कहा। वह बालिका अत्यन्त आनन्दपूर्वक खिचड़ी लेकर चली गयी। तब माताजी ने कहा, "जिसका जो प्राप्य है, उसे वह देना चाहिए। जो मनुष्य खा सकता है, वह गाय को नहीं देना चाहिए! जो गाय खा सकती है, वह कुत्ते को नहीं देना चाहिए; जो चीज गाय या कुत्ते नहीं खा सकते, वह अन्य जीव-जन्तुओं को देनी चाहिए, पर नष्ट नहीं करना चाहिए।" वे कोई भी चीज बेकार नही जाने देती थीं। फल

तथा सब्जियों के छिलके भी उठाकर गायों के लिए रख दिया करती थीं।

श्रीरामकृष्णदेव ने कहा था, " नरलीला में अवतार को ठीक मनुष्य ही के समान आचरण करना पड़ता है, इसीलिए उन्हें पहचानना कठिन है। मनुष्य बने हैं तो बिलकुल मनुष्य जैसे ही। वैसे ही भूख-प्यास, रोग-शोक , और कभी भय – ठीक मनुष्य के ही समान।" वे और भी कहा करते – "पंचभूत के फन्दे में पड़कर ब्रह्म भी रोते हैं।" ये बातें जैसे उनके अपने जीवन में, वैसे ही श्रीसारदादेवी के जीवन में भी सत्य थीं।

एक भतीजे की अकाल मृत्यु पर माताजी को विलाप करते हुए देखकर एक भक्त ने बाद में उनसे प्रश्न किया था, "माँ, नेड़ा की मृत्यु पर आप साधारण मनुष्य के समान रोने क्यों लगीं?" माताजी ने तुरन्त उत्तर दिया, "मैं संसार में हूँ, अत: संसार वृक्ष का फल भोगना ही होगा। इसीलिए मैं रोयी थी।"

माताजी की किसी-किसी उक्ती से उनके देवीत्व तथा मानवीत्व का युग्मभाव व्यक्त होता था। बातचीत के प्रसंग में एक दिन उन्होंने कहा था, "लोग मुझे भगवती कहते हैं। मैं भी सेचती हूँ की शायद सचमुच ही ऐसा हो। नहीं तो फिर मेरे जीवन में जो इतनी सारी अद्भुत अद्भुत घटनाएँ हुई हैं, वह कैसे! गोलाप, योगीन ये उनमें से अनेक बातें जानती हैं।...देखो, कई बार मैं सोचती हूँ कि,मैं तो राम मुखर्जी की बेटी हूँ, मेरी ही उमर की और भी कितनी स्त्रियाँ जयरामवाटी में हैं, भला उनमें और मुझमें क्या अन्तर है? भक्तगण जाने कहाँ-कहाँ से आकर मुझे प्रणाम करते हैं। पूछने पर पता चलता है कि कोई जज हैं तो कोई वकील हैं। ये लोग भला आते ही क्यों हैं?" सेवक ब्रह्मचारी यह सुनकर विस्मित हुए। उन्होंने पूछा, " अच्छा, तो क्या आप लोगों को सर्वदा अपने स्वरूप की स्मृति नहीं रहती?" माँ ने उत्तर दिया, "वह क्या सदा याद रहता है बेटा? फिर क्या यह सब कार्य हो सकेगा? पर हाँ, कार्य आदि के बीच भी जब

कभी इच्छा होती है, जरासा चिन्तन करते ही झटसे उद्दीपना हो जाती है और महामाया का पूरा खेल समझ में आ जाता है"। फिर कभी एक दूसरे भक्त ने माताजी का लोकोचित व्यवहार देखकर सन्देहपूर्ण चित्त से प्रश्न किया, "तो फिर तुम्हें जो यह साधारण स्त्रियों की तरह बैठे-बैठे रोटी बेलते देख रहा हूँ ,यह सब क्या है?" माँ ने कहा, "माया है और क्या? माया न होने पर मेरी यह दशा क्यों होती? मैं वैकुण्ठ में नारायण के पास लक्ष्मी के रूप में निवास करती। भगवान नरलीला करना पसन्द करते हैं न, इसीलिए !" भक्त ने पुन: प्रश्न किया, "तुम्हें क्या अपने स्वरूप की याद नही आती?" प्रश्न सुनकर माँ ने कहा "हाँ कभी कभी याद आती है; उस समय सोचती हूँ, कि यह भला क्या कर रही हूँ! फिर यही सब घरबार, बालबच्चे (सामने दिखाकर) मन में आ जाते हैं और फिर भूल जाती हूँ।" परन्तु वे यह नहीं भूली थीं कि उन्होंने स्वेच्छापूर्वक माया का वरण किया है, इसीलिए कभी कभी वे कहती थीं – "यह एक प्रकार मोह लेकर पड़ी हूँ।...यह एक माया पकड़े हुए हूँ, और क्या!" उन्होंने जो जनकल्याण तथा लोकशिक्षण के लिए देहधारण किया था, यह बात उनके प्रत्येक क्रियाकलाप से अभिव्यक्त हुआ करती थी। श्रीसारदादेवी के जीवन का एक प्रमुख अवदान 'सेवा' है। एक ओर है 'ब्राह्मी स्थिति'और दुसरी ओर है 'अबाध कर्म'– ऐसा सामंजस्यपूर्ण जीवन दुर्लभ है। साधन-भजन तथा सेवा में उनका समज्ञान तथा समभाव था।

❧

जयरामवाटी में कुछ महीने बिताकर माताजी कलकत्ते के अपने मकान में लौट आयीं। इस बार बहुतसे भक्त माताजी की कृपा पाकर धन्य हुए थे। माताजी का दीक्षा देना, ठाकुर का आदेश पालन करना ही था। हम पहले ही कह आये हैं कि युगावतार भगवान श्रीरामकृष्ण ने काशीपूर में अपनी अन्तिम बिमारी के समय, देहत्याग के कुछ समय पूर्व अपने धम-स्थापन का उत्तरदायित्व माताजी को सौंप दिया था।

"अंधकार में कुलबुलाते हुए जीवों को तुम देखना, उन्हें आलोक देकर कृतार्थ करना" – माताजी के प्रति ठाकुर का यह संक्षिप्त आदेश, विशेषकर ठाकुर के देहत्याग के पश्चात प्रतिदिन प्रतिक्षण माताजी के कानों में ध्वनित होने लगा। इसीलिए तो भक्तों के न आने पर वे बछड़े से बिछुड़ी गाय के समान व्याकुल होकर पुकारा करती थीं – "अरे बच्चों! तुम कहाँ हो, आओ!...आज का दिन व्यर्थ ही गया – आज अभी तक कोई (दीक्षार्थी) नहीं आया।... ठाकुर, क्या तुम्हारा आखिरी आदेश भी पूरा नहीं कर सकूँगी?" ऐसे समय कोई भक्त आ जाता तो माताजी का मुखमण्डल प्रसन्नता से खिल उठता।

ठाकुर ने आजीवन अमृतवितरण किया, बहुतसे लोगों को मुक्ति प्रदान की तथा नीलकण्ठ शिव के समान अपने कण्ठ में विषव्याधी (कॅन्सर) धारण की। माताजी ने उनकी उत्तरसाधिका के रूप में उनके जीवत्राण का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया। किन्तु उन्होंने विश्वमातृत्वशक्ति के आधारपर यह किया। पहले वे विश्वमाता थीं फिर जगद्गुरु। माँ के रूप में वे सब को गोद में उठा लेती तथा गुरु के रूप में उन्हें कैवल्यमुक्ति प्रदान करतीं। ब्राह्मण-चाण्डाल, हिन्दु-अहिन्दु, बालक-बालिकाएँ, युवक-युवतियाँ, वृद्ध-वृद्धाएँ, भले-बुरे, पण्डित-मूर्ख, सती-पतिताएँ, लुटेरे-डाकु, दाता-भिखारी, भारतवासी, जगद्वासी, जीव-जन्तु, कीट-पक्षी– सभी के लिए उनके द्वार खुले रहते। वे कभी किसीको लौटाती नहीं थीं। जो कोई माँ कहकर उनके श्रीचरणोंमें आश्रय लेता, उसीको वे अपने गोदमें उठा लेतीं।

करुणा की प्रतिमूर्ती माताजी किसीके दु:ख-कष्ट सहन नहीं कर सकती थीं। शिष्य के पाप ग्रहण कर वे स्वयं असह्य कष्ट सहतीं, फिर भी उस अयोग्य व्यक्ति को भी अपनी सन्तान ही मानती थीं।

दिन पर दिन भक्तों की संख्या बढ़ती जा रही थी। वे उद्बोधन में माँ के भवन में जब तब चले आया करते। इससे माँ को विश्राम नहीं मिलता

था, काफी असुविधाएँ भी हुआ करती थीं। यह सब देखकर एक दिन गोलाप-माँ ने शिकायत करते हुए कहा, "तुम्हारा यह कैसा हो गया है? – जो भी माँ कहकर आता है, उसके सामने तुरन्त पाँव बढ़ा देती हो।" माताजी स्नेहविगलित स्वर में बोलीं, "क्या करूँ गोलाप? किसी के माँ कहकर आने पर मुझसे रहा नहीं जाता।"...

कोई-कोई भक्त अपने जीवन की व्यर्थता से पीड़ित होकर माताजी के समक्ष अपना दु:ख व्यक्त करते थे कि उनके सदृश सद्गुरु पाकर भी दुर्भाग्यवश जीवन में कुछ भी नहीं हो रहा है। माताजी उन्हें आश्वासन देते हुए कहा करती थीं – "मुझे जो कुछ करना था, वह मैंने उसी (दीक्षा के) समय कर दिया है। परन्तु यदि तुम अभी शान्ति पाना चाहते हो तो साधन-भजन करो, अन्यथा देहान्त के समय तो होगा ही।" अर्थात् कैवल्यमुक्ति के लिए जितनी आध्यात्मिक शक्ति की आवश्यकता है, उतनी शक्ति उन्होंने शिष्य में दीक्षा के समय ही संचारित कर दी है, जिसके फलस्वरूप देहान्त के पूर्व शिष्य को इष्टदर्शन होगा तथा देहान्त के पश्चात् निर्वाणलाभ। शिष्य का पुनर्जन्म नहीं होगा।

इस कृपालाभ के विषय को विशेष रूप से समझाते हुए माताजी ने एक शिष्य से कहा था –"बेटा, यदि तुम खाट पर सोये हुए हो ओर कोई तुम्हें खाटसमेत कहीं अन्यत्र ले जाए, तो क्या तुम नींद खुलते ही समझ सकोगे कि तुम दूसरी जगह आ गये हो? जब नींद की खुमारी दूर हो जाएगी तभी समझोगे न, कि अन्यत्र आ गये हो?"

अपनी सन्तानों के दुर्बल एवं चंचल चित्त में निश्चिन्तता तथा निर्भरता लाने के लिए शक्तिस्वरूपिणी माँ को कभी-कभी आध्यात्मिक शक्ति का उपयोग करना पड़ता था। इस प्रकार विविध स्तर के भक्तों का धर्मजीवन गठित करना उनका कलकत्ता-निवास के समय एक प्रमुख कार्य था।

१४. दक्षिण भारत में

अपने बागबाजार के भवन में लगभग एक वर्ष बिताने के बाद, बलरामबाबू की पत्नी के विशेष आग्रह पर माताजी उनकी उड़ीसा प्रान्त के कोठार में अवस्थित जमींदारी में गयीं। माताजी के साथ मठ के कुछ ज्येष्ठ संन्यासी, सेवक तथा उनके कुछ आत्मीयगण थे। कोठार में निवास करते समय माताजी के मन में बहुत दिनों की रामेश्वर जाने की इच्छा पुनः बलवती हुई।

माताजी की इच्छा का पता लगने पर मद्रास से स्वामी रामकृष्णानन्द ने उनके दक्षिण भ्रमण का सारा उत्तरदायित्व स्वीकार करते हुए उन्हें आमन्त्रण भेजा। तदनुसार १९११ ई. फरवरी में माताजी ने अपने सेवक तथा संगिनियों के साथ कोठार से मद्रास की यात्रा की। मद्रास में स्वामी रामकृष्णानन्द ने उनका यथोचित स्वागत करने के पश्चात् उन्हें कुछ दिनों के लिए मयलापुर में ही मठ के निकट एक किराये के मकान में अत्यन्त आदरपूर्वक ठहराया। वहाँ पर अनेक नर-नारियों को माताजी के पुण्यदर्शन का सौभाग्य हुआ। कुछ उनसे मन्त्रदीक्षा प्राप्त कर धन्य हुए। मद्रास से स्वामी रामकृष्णानन्द माताजी तथा उनके संगियों को रामेश्वर-दर्शन के लिए ले गये। मार्ग में एक दिन मदुरा में ठहरकर उन्होंने मीनाक्षी देवी तथा सुन्दरेश्वर स्वामी नामक शिवलिंग का दर्शन तथा पूजन किया था। मदुरा के बाद वे लोग रामेश्वर पहुँचे।

पाम्बन द्वीप तथा वहाँ का रामेश्वर मन्दिर उन दिनों रामनाद के राजा के अधिकार में था। वे पूज्यपाद स्वामी विवेकानन्दजी के शिष्य थे। अतः उन्होंने तार द्वारा मन्दिर के पुजारियों एवं कर्मचारियों को सूचना दी, "मेरे गुरु की गुरु—परमगुरु—जा रही हैं; पूरी व्यवस्था करना।" गर्भमन्दिर में ब्राह्मण पुरोहित के अतिरिक्त अन्य सभी के लिए प्रवेश निषिद्ध था।

फिर भी राजा का निर्देश पाकर मन्दिर के कर्मचारी माताजी तथा उनके साथ के लोगों को सादर भीतर ले गये तथा शिवलिंग पर का कनकावरण हटा दिया। माताजी ने रामेश्वर शिवजी का विधिपूर्वक गंगाजल से अभिषेक किया तथा स्वामी रामकृष्णानन्दजी द्वारा संगृहीत एक सौ आठ सोने के बिल्वपत्रों एवं अन्य उपकरणों से उनकी पूजा की। रामेश्वर तीर्थ में उन्होंने तीन रात्री निवास किया। प्रतिदिन वे लोग पूजा-आरती का दर्शन करते थे। तीसरे दिन माताजी ने विशेष पूजा आदि की व्यवस्था करायी। पण्डों की पोथी से रामेश्वर-माहात्म्य सुनने के बाद उन्होंने उन लोगों को भोजन कराया तथा उनमें से हरएक को एक-एक लोटा दान दिया। रामेश्वर-माहात्म्य सुनते समय हाथ में पान, सुपारी और पैसा लेकर बैठना पड़ता है और पाठ समाप्त हो जाने पर उसे पाठक को दान करना होता है। माताजी ने इन सभी आचारों का यथावत् पालन किया।

रामेश्वर से लौट एक दिन पुनः मदुरा में ठहरकर वे लोग मद्रास आये। मद्रास पहुँचने के कुछ दिन बाद ही श्रीरामकृष्णदेव की जन्मतिथि आ गयी। माताजी की उपस्थिति के फलस्वरूप उस दिन का उत्सव विशेष रूप से जमा था। उस दिन किसी-किसी को उनसे मन्त्रदीक्षा भी मिली थी।

उसी वर्ष (१९११ ई.) मार्च के अन्त में बँगलोर श्रीरामकृष्ण मठ के अध्यक्ष के विशेष आग्रह पर, माताजी वहाँ के आश्रम में जाकर कुछ दिन रहीं। इस प्रसंग में माताजी ने कहा था, "बँगलोर में कितने लोगों की भीड़ हुई थी! ट्रेन से उतरते ही सब ने पुष्पवर्षा आरम्भ कर् दी। रास्ते पर फूलों की ढेर लग गयी थी। ठाकुर का भाव सर्वत्र फैलता जा रहा है। इसीलिए तो इतने लोग आ रहे हैं।" बँगलोर में एक दिन माताजी गाड़ी से गविपुर गुहा-मन्दिर गयी थीं। लौटते समय आश्रम के फाटक पर पहुँचते ही दीख पड़ा कि आश्रम के सामने का बड़ा मैदान लोगों

से भर गया है। माताजी की गाड़ी की आवाज सुनते ही वे लोग यन्त्रवत् उठ खड़े हुए और दूसरे ही क्षण साष्टांग हो धरती पर पड़ गये। यह दृश्य देखकर माताजी करुणा से अभिभूत हो गाड़ी से उतर पड़ी तथा प्रणत जनसमूह को आशीर्वाद देती हुई अपना दाहिना हाथ अभय-मुद्रा में उठाकर प्राय: पाँच मिनट तक चित्रलिखित सी खड़ी रहीं। उस समय चारों ओर नि:स्तब्धता थी, फिर भी उस शान्ति के बीच मानो एक शक्ति अज्ञात रूप से सक्रिय थी, जिसके स्पन्दन से सभी भावविव्हल थे। थोड़ी देर बाद माताजी धीरे-धीरे आश्रम के बड़े कमरे में आकर ठाकुर के चित्र के सन्मुख बैठ गयीं। भक्तगण बैठकर मौनपूर्वक उनके दर्शन करने लगे। आश्चर्य की बात यह है कि इस दर्शन के फलस्वरूप उनके सारे संशय दूर हो गये तथा उनका हृदय एक अव्यक्त दिव्यानन्द से परिपूर्ण हो उठा। उस गहन नि:स्तब्धता को भंग करते हुए माताजी ने निकटवर्ती संन्यासी सन्तान से कहा, "इन लोगों की भाषा तो मैं जानती नहीं। यदि इनसे दो बातें कर पाती तो इन्हें कितनी शान्ति मिलती।" संन्यासी शिष्य ने भक्तों को माताजी के वे वाक्य अंग्रेजी में समझाये। तब सभी लोग एक ही स्वर में बोल उठे," नहीं, नहीं, यही ठीक है। इसी से हमारा हृदय आनन्द से भर गया है। ऐसे समय मुख की भाषा की कोई आवश्यकता नहीं।" माताजी ने अपनी दिव्य उपस्थिति के द्वारा एक ऐसे अपार्थिव वातावरण की सृष्टि कर दी कि उसके प्रभाव से सब का हृदय एक अनिर्वचनीय आनन्द से भर उठा।

बँगलोर आश्रम के प्रांगण में एक चन्दन का पेड़ तथा एक छोटी पहाड़ी देखकर माताजी अत्यन्त आनन्दित हुई थीं। एक दिन सन्ध्या के पूर्व अपनी दो-एक संगिनियों के साथ माताजी उस पहाड़ी पर चढ़ीं और अपने आप में मग्न हो सूर्यास्त देखती हुई ध्यानस्थ हो गयीं। ध्यान के पश्चात् पश्चिम-अभिमुख बैठकर थोड़ी देर तक जप भी किया। वह

स्थान अब एक विशेष तीर्थ के रूप में परिणत हो गया है। माताजी जिस स्थान पर बैठी थीं, वहाँ बाद में आश्रम के व्यवस्थापकों ने एक छोटासा मन्दिर बना दिया। अब बहुतसे भक्त इस स्थान का दर्शन करने जाते हैं।

इस प्रकार बँगलोर में कुछ दिन रहते हुए लोगों को दिव्यानन्द प्रदान करके माताजी मद्रास लौट आयीं। फिर वहाँ कुछ दिन विश्राम करने के पश्चात् कलकत्ता के लिए प्रस्थान किया। गोदावरी में स्नान करने के निमित्त एक दिन के लिए वे लोग राजमहेन्द्री में भी ठहरे थे। फिर जगन्नाथ-दर्शन के लिए पुरी में उतरकर वहाँ भी तीन रात निवास किया था। अन्त में ११ अप्रैल १९११ ई. को माताजी कलकत्ता आ पहुँचीं।*

इस तीर्थभ्रमण के पश्चात् माताजी जिस दिन बेलुड़ मठ में पधारीं उस दिन अत्यन्त समारोह के साथ वहाँ उनकी अभ्यर्थना की गयी। तीर्थभ्रमण के फलस्वरूप उस समय उनका मन प्रफुल्लित था तथा शरीर भी स्वस्थ था। इससे भक्तों के हृदय में भी अपूर्व आनन्द का संचार हुआ था। विशेषत: दक्षिण भारत में उनकी उपस्थिति तथा अव्यक्त वाणी की जो महिमा प्रगट हुई थी, वह सब को विदित हो चुकी थी। अत: सभी अपने हृदय की भक्ति माताजी के चरणों में अर्पित करने को विशेष उत्सुक थे। मठ के मुख्यद्वार पर केले के खम्भों तथा मंगल कलश की स्थापना की गयी थी। मार्ग के दोनों ओर स्वामी ब्रह्मानन्द आदि सौ से भी अधिक साधू तथा भक्तगण हाथ जोड़कर पंक्तिबद्ध खड़े थे। माताजी की गाड़ी फाटक

---

* माताजी द्वारा दक्षिण भारत के तीर्थों का दर्शन रामकृष्ण-संघ के इतिहास में एक विशेष महत्वपूर्ण घटना है। श्रीरामकृष्ण अपने स्थूल शरीर में दक्षिण भारत नहीं जा सके थे अत: इस अंचल को उनकी भावधारा से परिपूर्ण करने के लिए स्वामी रामकृष्णानन्द बहुत अनुरोध-प्रार्थना करके "श्रीरामकृष्ण का ही दूसरा रूप" श्रीसारदादेवी को दक्षिण भारत ले गये थे। श्रीरामकृष्ण को अपने हृदय में वहन करते हुए माताजी ने दक्षिण भारत के विभिन्न अंचलों में एक महीने से भी अधिक समय तक निवास किया था।

तक पहुँचते ही पटाखे छोड़े गये। माताजी जब महिला-भक्तों के साथ धीरे-धीरे मठ की ओर अग्रसर होने लगीं, तो साधु-भक्तों ने समवेत स्वर में 'सर्वमंगलमांगल्ये' आदि गाते हुए उन्हें प्रणाम निवेदित किया। माताजी का सर्वांग वस्त्राच्छादित था – मानो श्वेत पट से आवृत एक सचल देवीप्रतिमा ही मठ की ओर बढ़ी चली जा रही हो। माताजी अपनी संगिनियों के साथ मठ में पहुँची, तो उन्हें ऊपर के एक कमरे में बैठाया गया। उस समय नीचे कालीकीर्तन चल रहा था। साधु-भक्तगण तन्मय होकर सुन रहे थे। माताजी भी उसे सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुईं। बाद में मठ के सभी साधु एवं भक्तों ने उन्हें भक्तिभाव से प्रणाम किया। माताजी ने सब को आशीर्वाद दिया। ठाकुर का प्रसाद दिये जाने पर माताजी ने उसमें से थोड़ासा ग्रहण करके शेष नीचे भेज दिया। सभी ने आनन्दपूर्वक वह प्रसाद ग्रहण किया। सन्ध्या के पूर्व जब वे सभी को आशीष देती हुई विदा लेने लगीं, तो पुनः कुछ पटाखे छोड़कर उनके प्रति श्रद्धा अर्पित की गयी।

१५. ज्ञानदायिनी माँ

रामेश्वर से लौटने के पश्चात् माताजी एक माह से भी अधिक बागबाजार में रहीं। इस अवधि में बहुतसे भक्त उनके दर्शन तथा कृपा प्राप्त कर कृतार्थ हुए थे। उनमें गुरुभाव ऊपर से बिल्कुल भी नहीं था। दीक्षित भक्तों का वे ठाकुर से ही सम्पर्क करा देती थीं। वे कहतीं, "ठाकुर ही गुरु हैं और ठाकुर ही इष्ट हैं।" माताजी का यह निर्देश सुनकर जब भक्त चिन्ता में पड़कर उनसे पूछता, "तो फिर आप क्या हैं?" तो माताजी हँसते हुए कहतीं, "मैं उनकी दासी हूँ।" इसी में माताजी अपना सर्वोच्च गौरव मानती थीं।

ठाकुर के नाम में उनका अगाध विश्वास था। एक संन्यासी सन्तान की निराशाजनक वाणी सुनकर माताजी ने कहा था, "क्यों, ठाकुर का नाम सामान्य बात है जो ऐसे ही चली जाए! वह नाम किसी तरह व्यर्थ नहीं जाएगा। जो लोग ठाकुर का नाम लेकर यहाँ आये हैं, उन्हें इष्टदर्शन अवश्य होगा। यदि अन्य समय नहीं हुआ तो मृत्यु के पूर्व अवश्य ही होगा।"

'ईश्वरदर्शन नहीं हुए, न साधन-भजन ही हो पा रहा है' इस चिन्ता से भयभीत हो एक दीक्षित सन्तान ने माताजी से कहा, "माँ, अब मैं क्या करूँ? मैं क्या रसातल चला गया?" माताजी ने दृढ़तापूर्वक सन्तान को अभय देते हुए कहा, "क्या कहा? मेरी सन्तान होकर तुम रसातल जाओगे? यहाँ जो मेरे पास आया है, जो मेरी सन्तान है, उसकी मुक्ति हो चुकी है। विधाता की भी सामर्थ्य नहीं कि वे मेरी सन्तानों को रसातल भेजे। मेरे ऊपर भार देकर तुम निश्चिन्त रहो। और सदा स्मरण रखो कि तुम्हारे पीछे एक ऐसा कोई है जो समय आने पर तुम लोगों को नित्यधाम में ले जाएगा।" एक दूसरे निराश सन्तान को आश्वासन देते हुए उन्होंने कहा था, "इस समय चाहे जो भी हो(अर्थात जप-ध्यान

नियमित हो या न हो), अन्त में ठाकुर को (तुम लोगों को लेने) आना ही होगा। वे स्वयं कह गये हैं। क्या उनके मुख की बात कभी व्यर्थ हो सकती है? जैसा दिल में आए, करते चले जाओ।"

माताजी की ये बातें शिष्य के लिए अभयदायक तथा गुरुवाक्य में विश्वासोत्पादक हैं। फिर वे उनके शिष्य के कल्याण का पूरा भार लेने के आश्वासन से पूर्ण हैं तथा गुरु के प्रति श्रद्धा की आवश्यकता पर बल देती हैं।

एक बार एक दीक्षित सन्तान ने अबोध शिशु के समान सरलतापूर्वक माताजी से प्रश्न किया, "अच्छा माँ, मन्त्र लेने की क्या आवश्यकता है? मन्त्र का जप न करके यदि कोई केवल 'माँ काली, माँ काली' कहकर पुकारे तो क्या उससे नहीं हो जाएगा?" माताजी ने स्नेह-विगलित कण्ठ से उत्तर दिया, "बेटा, मन्त्र के द्वारा देहशुद्धि होती है। भगवान् का मन्त्र जपकर मनुष्य पवित्र हो जाता है। और वैसे भी देहशुद्धि के लिए मन्त्र की आवश्यकता है।" एक दूसरे समय एक भक्त ने माताजी को वटवृक्ष के अत्यन्त छोटे बीज दिखाते हुए कहा, "माँ देखती हो? देखने में ये लाल शाक के बीजों से भी छोटे हैं। इसमें से इतना विराट् वृक्ष होता है!" इस पर माँ बोलीं, "सो क्यों न होगा। यही देखो न, भगवन्नाम का बीज कितना छोटासा है, पर इसी से बाद में भाव, भक्ति, प्रेम आदि कितना कुछ होता है।"

मन्त्रजप के माहात्म्य के बारे में माताजी ने एक बार कहा था, "जप-तप के द्वारा कर्मपाश कट जाता है।...(जप के) द्वारा इन्द्रियों आदि का प्रभाव दूर हो जाता है।" फिर एक दूसरे अवसर पर उन्होंने कहा था, "यथासमय आलस्य त्यागकर जप-ध्यान करना चाहिए।... प्रतिदिन पन्द्रह-बीस हजार जप कर सकने पर सब हो जाता है।... पहले करके देखो, फिर यदि न हो तो कहना। पर थोड़ा मन लगाकर करना होगा।

कोई करेगा-धरेगा कुछ भी नहीं, केवल कहेगा कि होता क्यों नहीं।" एक और भक्त को सान्त्वना देते हुए उन्होंने कहा था, "(मानसिक शान्ति पाने के लिए) जप, ध्यान तथा प्रार्थना की विशेष आवश्यकता है। कम से कम सायं-प्रात: तो एक-एक बार बैठना ही चाहिए। वह नाव की पतवार के समान है। सन्ध्या समय बैठने पर दिन भर में भलाबुरा क्या किया, इसका विचार आता है। फिर पिछले दिन की मानसिक अवस्था के साथ आज की मानसिक अवस्था की तुलना करनी चाहिए। जप करते हुए इष्टमूर्ति का ध्यान करना चाहिए।... कर्म के साथ सबेरे-शाम जप-ध्यान न करने पर कैसे समझोगे कि क्या हो रहा है या नहीं हो रहा है? जप-ध्यान के लिए एक समय निश्चित रखना अत्यन्त आवश्यक है।" फिर किसी किसी विशिष्ट साधक को वे सर्वदा स्मरण-मनन करने को कहा करती थीं। १९१९ ई. अप्रैल में माताजी जब कोआलपाड़ा में थीं, तो एक भक्त दीक्षा के पश्चात् विदा लेते समय आशीर्वाद के लिए उनके पास गये और पूछा, "माँ उपाय क्या है?" कमरे में ताक पर एक छोटीसी घड़ी रखी हुई थी। माँ ने उसे दिखाकर कहा, "यह घड़ी जैसे टिक-टिक कर रही है, ठीक वैसे ही नाम लिये जाओ, उसी से सब हो जाएगा; और कुछ भी नहीं करना हो।"

उनके भीतर कृपा की बाढ़ आ गयी थी और उस समय उन्होंने बहुतसे लोगों पर कृपा की थी। फिर १७ मई १९११ ई. को माताजी ने सब के साथ जयरामवाटी की यात्रा की और उसके कुछ दिन बाद ही राधू का विवाह किया। विपुल दान-दहेज के साथ राधू को सिर से पैर तक गहनों से ढँक दिया गया था। बराती, घराती, पास-पड़ोस के गाँव के बालक, वृद्ध, स्त्री-पुरुष तथा दीन-दुखी सभी को भरपेट भोजन कराके परितृप्त किया गया। नृत्य, गीत तथा खेल-तमाशों से पूरा जयरामवाटी ग्राम आल्हादित हो उठा। माताजी भी आनन्दविभोर हो गयीं – इसी प्रकार योगमाया का आश्रय लेकर श्रीसारदादेवी की जीवनलीला चल रही थी।

इसके छह-सात मास बाद माताजी कलकत्ता आयीं। उनके आगमन से भक्तों के बीच चहल-पहल मच गयी और उनकी कृपा पाने को लोग दूर-दूर से आने लगे। जगत् को मातृभाव सिखाने के लिए ही श्रीसारदादेवी ने देहधारण किया था। पहले वे 'माँ ' थीं, फिर 'गुरु'। उनके मातृभाव ने मानो उनके गुरुभाव को ढक दिया था। या उनका गुरुभाव मानो उनके मातृभाव की ही परिणति थी। गुरु के रूप में वे अपने सन्तानों को भवसागर के पार ले जा रही हैं। वहाँ पर भी माता और सन्तान का चिरमिलन है। वे जगदम्बा जो हैं। आश्रित सन्तानों के प्रति उनके मन में कितनी चिन्ता है, कितनी उत्कण्ठा है। सभी विपत्तियों में वे पक्षिमाता के समान अपने स्नेहपंखों को फैलाकर सन्तानों को ढँक लेती हैं – रक्षाकाली के समान समस्त विपदाओं से रक्षा करती हैं।



इस वर्ष (अक्तूबर, १९१२ ई.) बेलुड़ मठ में दशभुजा प्रतिमा में देवी की आराधना होनेवाली है। माताजी की अनुमति लेकर पूजा का आयोजन हो रहा है। स्वामी प्रेमानन्द के विशेष अनुरोध पर माताजी पूजा के कुछ दिन मठ में निवास करने को सहमत हुई हैं। मठ से लगे उत्तर के उद्यान-भवन में उन्हें ठहराने की व्यवस्था हुई है। साधु-भक्तों के हृदय में आनन्द की तरंगें उठ रही हैं।

बोधन के दिन सन्ध्या समय माताजी बागबाजार से मठ को आनेवाली थीं। शाम हो चुकी। माताजी के आगमन में विलम्ब होते देख स्वामी प्रेमानन्द व्यग्र होकर दौड़-धूप करने लगे। उनके आदेशानुसार शीघ्रता से मठ के प्रवेशद्वार पर केले के खम्भे तथा मंगलघट स्थापित किये गये। देवी का बोधन समाप्त होते तक माताजी की गाड़ी ने भी मठ में प्रवेश किया। "दुर्गामाई की जय" ध्वनि से सम्पूर्ण मठभूमि गूँज उठी। एक संगिनी ने माताजी का हाथ पकड़कर उन्हें गाड़ी से नीचे उतारा। वे सब कुछ देखकर प्रसन्नता व्यक्त करती हुई बोलीं, "सब ठीक-ठाक है। हम

लोग सज-सँवरकर मानो माँ दुर्गा की तरह आ पहुँची।" मठ के उत्तर ओर के उद्यान-भवन के दक्षिण कमरे में वे रहीं। उस भवन में उनके साथ योगीन-माँ, गोलाप-माँ, लक्ष्मीदीदी, तथा भानुबूआ भी थीं। महाष्टमी के दिन अगणित साधु-भक्तों ने माताजी की श्रीचरणपूजा की। माताजी के शुभागमन पर सभी ने देवी के चिन्मय आविर्भाव का अनुभव करते हुए अपने को धन्य माना। बहुतसे भाग्यवानों को माताजी से मन्त्रदीक्षा भी मिली। पूजा के इन कुछ दिनों के लिए मठ में आनन्द का मानो ज्वार आ गया था। इसी प्रकार बेलुड़ मठ में एक सप्ताह बिताकर माताजी उद्‌बोधन को लौट गयीं।

इसके कुछ दिन बाद ही माताजी ने काशीदर्शन के लिए प्रस्थान किया। उनके साथ सेवक, संगिनियाँ तथा कुछ भक्त महिलाएँ भी गयीं। ५ नवम्बर को वाराणसी पहुँचकर उन्होंने श्रीरामकृष्ण अद्वैत आश्रम में पदार्पण किया। वहाँ थोड़ी देर विश्राम करने के पश्चात् वे निकट ही बागबाजार के दत्तपरिवार द्वारा नवनिर्मित भवन 'लक्ष्मीनिवास' में चली गयीं। इस मकान में वे लगभग ढाई महीने तक रहीं। माताजी के काशीधाम आगमन के सुअवसर पर ठाकुर के अन्तरंग पार्षदों में स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी शिवानन्द, स्वामी तुरीयानन्द, स्वामी सुबोधानन्द तथा मास्टर महाशय प्रभृति भी वहाँ आ गये थे। अविमुक्तपुरी विश्वनाथधाम में जगज्जननी तथा उनके सन्तानों का समावेश हुआ था। सब के हृदय में आध्यात्मिक उत्सव चल रहा था। अगले दिन प्रातःकाल माताजी विश्वनाथ एवं अन्नपूर्णा के दर्शन करने गयीं।

श्रीरामकृष्ण अद्वैत आश्रम में कालीपूजा का आयोजन हुआ था। माताजी ने आकर काफी समय तक पूजा देखी। फिर थोड़ा प्रसाद ग्रहण करने 'लक्ष्मीनिवास' में आयीं। कालीपूजा के दूसरे दिन वे रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम देखने गयीं। स्वामी ब्रह्मानन्द आदि ठाकुर के सन्तानगण

वहाँ उपस्थित थे। स्वामी अचलानन्द माताजी की पालकी के साथ साथ चलते हुए उन्हें रोगियों के आवासगृह तथा सेवाश्रम के अन्य कार्य दिखा रहे थे। सब कुछ देखने के पश्चात् वे अत्यन्त प्रसन्न होकर बोलीं, 'यहाँ पर स्वयं ठाकुर विराजमान हैं और माँ लक्ष्मी पूर्ण होकर बैठी हैं।... यह स्थान इतना सुन्दर है कि काशी में ही रह जाने की इच्छा होती है।' अपने निवासस्थान पर लौटकर माताजी ने सेवाश्रम के सेवाकार्यों के लिए एक भक्त के हाथ दस रुपये भेजे। (उनका दिया हुआ वह दस रुपये का नोट एक अमूल्य धरोहर के रूप में आज भी सेवाश्रम के कार्यालय में सुरक्षित रखा है।) उस दिन बहुतसे भक्तों ने प्रणाम करके उनसे पूछा, "माँ सेवाश्रम कैसा लगा?" उन्होंने गम्भीरतापूर्वक कहा, "देखा कि ठाकुर वहाँ प्रत्यक्ष रूप में विराजमान हैं – इसीलिए यह सब कार्य हो रहा है। ये सब उन्हीं के कार्य हैं।"

काशी में निवास करते समय माताजी को कई देवीदेवताओं के दर्शन हुए थे। एक दिन वैद्यनाथ-दर्शन के पश्चात् तिलभाण्डेश्वर शिव के दर्शन करके उन्होंने कहा, "यह स्वयम्भू लिंग है।" एक दिन सन्ध्या के पूर्व उन्होंने केदारघाट जाकर गंगाजी के दर्शन किये और केदारनाथ की आरती देखी। बाद में उन्होंने कहा था, "ये केदार और वे हिमालय के केदार एक ही हैं – दोनों में योग है। इनका दर्शन करने पर उनका भी दर्शन हो जाता है – बड़े जाग्रत् हैं।"

माताजी एक दिन सारनाथ देखने गयीं। स्वामी ब्रह्मानन्द आदि अलग घोड़ागाड़ी में गये। बौद्ध युग के इन प्राचीन कीर्तिमय चिन्हों को देखकर माताजी अत्यन्त आनन्दित हुईं। काशी प्रवासकाल में माताजी ने दो प्राचीन साधुओं के भी दर्शन किये थे। उनमें से एक थे एक प्रसिद्ध नानकपन्थी साधु तथा दूसरे थे चमेलीपुरीजी। अत्यन्त वृद्ध संन्यासी चमेलीपुरी का दर्शन कर माताजी अतीव आनन्दित हुईं और दूसरे दिन उन्होंने उनके लिए सन्तरे, मिठाइयाँ तथा एक कम्बल भेज दिया।

इसके पूर्व भी माताजी दो बार काशीधाम गयी थीं, पर उस समय अधिक दिन रहना नहीं हो सका था। इस बार अधिक समय तक निवास करने का सुयोग मिला। इसका लाभ उठाते हुए उन्होंने पाठक पण्डितजी से विधिपूर्वक "काशीखण्ड" का श्रवण किया। इसके अतिरिक्त उनके निवासस्थान पर अपराह्ण में एक संन्यासी उन्हें भागवत पढ़कर सुनाया करते थे। इस वर्ष माताजी की उपस्थिति में अद्वैताश्रम मे ३० दिसम्बर को खूब धूमधाम के साथ उनकी जन्मतिथि मनायी गयी। उस दिन साधु-भक्तों को दर्शन देने के लिए सन्ध्या समय माताजी अद्वैताश्रम में आयीं तथा सब को आशीर्वाद दिया। उनके दर्शन पाकर तथा उन्हें प्रणाम निवेदित कर भक्तों के हृदय एक अनिर्वचनीय दिव्यानन्द से परिपूर्ण हो गये।

काशी से प्रस्थान करने के कुछ दिन पूर्व साधु-भक्तों को आशीर्वाद देने माताजी अद्वैताश्रम में आयीं। निवासस्थान से चलते समय वे अपना एक फ्रेम किया हुआ फोटो अपने आँचल से ढँककर लायी थीं। आँचल की छोर में दो फूल भी बँधे थे। अद्वैताश्रम में आते ही पहले वे निचली मंजिल में अवस्थित छोटे मन्दिर में ठाकुर को प्रणाम करने गयीं। वहाँ निकट के ताक पर उन्होंने अपने चित्र की स्थापना की तथा अपने आँचल के छोर से वे दो फूल निकालकर उस पर चढ़ा दिये। अत्यन्त भावविभोर हो वे मन्दिर से बाहर आयीं तथा आश्रम के अध्यक्ष चन्द्र महाराज से कहा, "चन्द्र, मन्दिर के ताक पर मैं अपना भी चित्र स्थापित कर आयी। प्रतिदिन दो फूल चढ़ाते रहना।" उसी दिन से काशी के अद्वैताश्रम में ठाकुर की पूजा के साथ ही माताजी की भी पूजा का प्रवर्तन हुआ। अब भी यह पूजा होती है।*

* १९१२ ई. में काशी के अद्वैताश्रम में माताजी द्वारा अपने चित्र की प्रतिष्ठा कर उसके नित्यपूजा की व्यवस्था करना रामकृष्ण संघ के इतिहास में एक विशेष महत्व

काशी में एक दिन कुछ महिलाएँ माताजी के दर्शन करने आयी हुई थीं। उन्होंने देखा कि माताजी राधू, भूदेव आदि बच्चों को लेकर व्यस्त हैं, तथा गोलाप-माँ को अपनी फटी धोती सी देने के लिए कह रही हैं। यह सब देखकर उन महिलाओं में से एक ने कहा, "माँ, लगता है, आप तो घोर माया में बद्ध हैं।" माताजी ने अस्फुट स्वर में उत्तर दिया, "क्या करूँ बेटी, स्वयं ही माया जो हूँ।" माताजी का यह इंगित शायद उन महिलाओं की समझ में नहीं आया।

१५ जनवरी, १९१३ ई. को काशी से कलकत्ता लौटकर माताजी कुछ समय बाद जयरामवाटी गयीं। परन्तु सात-आठ महीने बाद ही भक्तों के विशेष आग्रह पर उन्हें कलकत्ते लौटना पड़ा। इस बार उन्होंने लगभग पौने दो वर्ष कलकत्ते में निवास किया । इस अवधि में बहुतसे लोग उनकी कृपा पाकर धन्य हुए थे। तुष्टिरूपिणी, तृप्तिरूपिणी माताजी सभी को तुष्ट तथा तृप्त किया करती थीं।

की घटना है। क्योंकि तब तक बेलुड़ मठ अथवा उससे संलग्न अन्य किसी मठ या आश्रम में प्रगट रूप से माताजी के चित्र की पूजा नहीं होती थी। माताजी जब तक स्थूल शरीर में थी तब तक इस नियम का अक्षरश: पालन हुआ। बेलुड़ मठ में माताजी की पूजा १९२० ई. में उनके शरीरत्याग के दूसरे दिन से ही प्रारम्भ हुई।

जयरामवाटी के निकट अवस्थित कोआलपाड़ा का आश्रम ही इसका एकमात्र अपवाद था, जहाँ १९११ ई. में माताजी ने स्वयं ही ठाकुर एवं अपने चित्र की स्थापना करके पूजा की थी। किन्तु उस समय यह आश्रम मठ से संलग्न नहीं था।

१६. करुणारूपिणी माँ

माताजी के चरित्र में एक बड़ी दुर्बलता थी और वह यह कि वे किसी के नेत्रों में अश्रु नहीं देख पाती थीं। किसी की आँख में आँसू देखते ही वे अधीर हो उठती थीं। उनकी करुणा में पात्र-अपात्र या स्थान-काल का भेद नहीं था। किसी के 'माँ' कहकर पुकारते ही वे उसे अपनी गोद में खींच लेती थीं।

एक महिला का दूसरे के बहकावे में आकर पाँव फिसल गया था। बाद में अपनी गलती समझकर उसे पश्चात्ताप हुआ। वह माताजी के चरणों में आश्रय तथा शान्ति पाने के लिए उपस्थित हुई। मातृ-मन्दिर में प्रवेश करने में उसे संकोच हो रहा था। अतः द्वार के बाहर खड़े रहकर उसने अपने पाप की कहानी माँ को बताते हुए कहा, "माँ, मेरा क्या होगा? मैं आपके पास – इस मन्दिर में प्रवेश करने योग्य नहीं हूँ।" इस पर माताजी ने आगे बढ़कर उस महिला को गले लगा लिया तथा स्नेहपूर्वक कहा, "आओ बेटी, भीतर आओ। पाप क्या है यह समझ गयी हो। पश्चात्ताप हो रहा है। आओ, मैं तुम्हें मन्त्र दूँगी– ठाकुर के श्रीचरणों में सब अर्पण कर देना। भय की क्या बात है?" सन्तान ने धूल-मिट्टी लिपटा ली थी, माँ ने झाड़-पोंछकर उसे गोद में उठा लिया। प्यार-दुलार से परिपूर्ण कर दिया।

सभी लोग माताजी के पास मुक्ति की कामना लेकर आते हों ऐसी बात नहीं है। अनेक लोग विविध कामनाएँ लेकर आते थे। कोई रोगमुक्ति चाहता था, तो कोई ऐश्वर्य की इच्छा रखता था, फिर और भी बहुतसे लोग और कितनी तरह की प्रार्थना लेकर आया करते थे। सभी आर्त थे, अतः वे सभी को उनका अभिलषित वर देकर सन्तुष्ट कर दिया करती थीं। कई बार तो उन्होंने दूसरों का रोग भी अपने शरीर पर ले लिया था।

उनकी दया की सीमा नहीं थी। कहीं भी किसी का भी दु:ख देखकर उनका हृदय पसीज जाता था। वे अपने कोमल करों से उसके आँसू पोंछकर उसकी सारी अपूर्णताओं को दूर कर देती थीं।

बागबाजार में माताजी के मकान के सामने मजदूर वस्ती से एक महिला अपने रुग्ण शिशू को गोद में लिये माताजी को प्रणाम करने आयी। अहा! उस पर माताजी ने कितनी दया की, उसके प्रति कितना स्नेह, कितनी सहानुभूति व्यक्त की! उन्होंने बीमार बच्चे को आशीर्वाद दिया– "अच्छा हो जाएगा।" फिर दो बड़े अनार और बहुतसे अँगुर ठाकूर को निवेदित करके उस महिला के हाथ में देती हुई बोलीं, "अपने रोगी बालक को खिलाना।" उस गरीब महिला के आनन्द का पारावार न रहा। कृतज्ञतापूर्वक वह बारम्बार माताजी को प्रणाम करने लगी।

एक दिन एक अंग्रेज महिला आयी और अपनी पुत्री के भीषण रोग की बात कहती हुई रुमाल से मुहँ ढँककर रोने लगी। मेम साहब का दु:ख देखकर माँ का हृदय पिघला। प्रसादी फूल तथा बिल्वपत्र हाथ में लेकर वे थोड़ी देर आँख मूँदे रहीं, फिर ठाकुर के चित्र की और देखकर वह प्रसादी फूल और बिल्वपत्र उसे देती हुई बोलीं, "इसे अपनी लड़की के सिर पर फेरकर उसके तकिये के नीचे रख देना।...तुम्हारी लड़की अच्छी हो जाएगी।" माताजी के आशीर्वाद से वह बालिका नीरोग हो गयी।

उनके इस मातृस्नेह से इतर प्राणी भी वंचित नहीं थे। माताजी की पाली हुई एक बिल्ली थी। एक दिन उस बिल्ली ने एक सेवक ब्रह्मचारी के बिस्तर पर बच्चे दिये। यह देखते ही उन्होंने जल्दी से साबुन से उन ब्रह्मचारी की चद्दर आदि धोकर साफ कर दी। तो भी उन्हें भय हो रहा था कि ब्रह्मचारी को पता चलने पर कहीं वे बिल्ली को मारने न लगें। इसीलिए ब्रह्मचारी के आते ही उन्होंने कहा, "बेटा, बिल्ली को कुछ मत करना। वह यहीं रहती है, खाती है– भला बच्चा देने और किधर जाएगी।"

जयरामवाटी में एक दिन प्रातःकाल एक बछिया 'हम्बा हम्बा' करके खूब रँभा रही थी। पुकार सुनकर माताजी का हृदय आकुल हो उठा। "आती हूँ बेटी, अभी आती हूँ" कहती हुई वे अस्त-व्यस्त स्थिति में ही दौड़कर गयीं और बछिया को खोल दिया।

पुत्रशोक से आतुर गिरीशबाबू जयरामवाटी गये थे। एक दिन उन्होंने देखा कि माताजी बिस्तर की चद्दर, तकिये का खोल आदि लेकर धोने के लिए तालाब की ओर जा रही हैं। रात को सोते समय गिरीशबाबू ने देखा कि उनका बिस्तर जगमगा रहा है। इसे माताजी का ही कार्य समझकर उनके अन्तर में जैसी वेदना हुई, वैसे ही माताजी के अपार स्नेह की बात सोचकर उनका हृदय आनन्द से परिपूर्ण हो उठा। इस प्रकार ज़यरामवाटी में रहते हुए माताजी का स्नेह-यत्न पाकर गिरीशबाबू पुत्रशोक भूल गये और मानो नवजीवन प्राप्त करके लौटे।

जयरामवाटी में माताजी का नया मकान बन रहा है। एक सेवक कार्य की देखरेख कर रहे हैं। वे इसी सिलसिले में एक दिन सबेरे पास के गाँव को गये। जाड़े का मौसम था। दिन छोटे थे। उनके लौटते लौटते देर हो गयी। सूर्यास्त के लगभग एक घण्टा पहले लौटकर उन्होंने देखा कि माँ ने तब तक भोजन नहीं किया हैं—भूखे सन्तान की प्रतीक्षा में बैठी हैं। सेवक विस्मित होकर शिकायत के स्वर में बोले, "माँ, तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक नहीं है, और तुम सन्ध्या तक उपवासी हो?" माँ ने कहा, "तुम्हारा भोजन नहीं हुआ, फिर मैं कैसे खाती?" इस पर सेवक क्या कहते? वे सिर झुकाये भोजन करने बैठे। आँखों में आँसू भर आने के कारण उनकी दृष्टि धूमिल हो गयी।

एक सेवक के दोनों हाथों में खुजली हो गयी। अतः वे स्वयं भोजन नहीं कर पाते थे। माताजी उन्हें दवा लगा देती थीं तथा अपने हाथ से खिला देती थीं और जूठी पत्तल भी उठा लेती थीं। यह घटना यद्यपि छोटीसी है पर माताजी के असाधारण स्नेह की परिचायक है।

माताजी के हृदय में मानो कृपा की बाढ़ आ गयी थी, जिसमें बिना भेदभाव के सब कुछ बह चला था। बार-बार बुखार आता है, शरीर भी दिनों-दिन दुर्बल हो चला है, फिर भी माताजी दीक्षादान बन्द नहीं करती हैं। ठाकुर का आदेश जो है।

एक दिन माताजी के असीम स्नेह तथा करुणा का प्रसंग चल रहा था। योगीन-माँ माताजी की ओर देखकर हँसती हुई कह रही थीं, "माँ हमसे चाहे जितना भी स्नेह क्यों न करती हों, तो भी ठाकुर के बराबर नहीं है। लड़कों के लिए उनके मन में कितनी व्याकुलता थी, कितना प्रेम था, उसका क्या वर्णन किया जा सकता है?" माताजी ने हँसते हुए कहा, "सो क्यों न होगा? उन्होंने तो सिर्फ कुछ चुने हुए लड़के लिये थे। वह भी लक्षण आदि देखकर और मेरी ओर तो चींटियों की कतार ही ढकेल दी है।"

ठाकुर ने गिरीश का बकलमा (वकालतनामा) लिया था। माताजी के जीवन में भी इस बकलमा की पूर्ण अभिव्यक्ति दीख पड़ती है। ठाकुर की इच्छानुसार उन्होंने बहुतसे आश्रित भक्तों का भार लिया था। उनसे कहा था, "तुम्हें कुछ भी नहीं करना होगा। तुम्हारे लिए मैं ही सब करूँगी।" बहुतों को तो उन्होंने शपथपूर्वक अभय प्रदान किया था। कई बार माताजी अल्पवयस्क बालकों को भी दीक्षा दिया करती थीं। एक दिन बारह वर्ष का एक बालक उद्बोधन में आया और माताजी को प्रणाम करके उनकी कृपा पाने के लिए रोने लगा। बालक समझकर किसी ने उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया। दूसरे दिन देखने में आया कि वह बालक नीचे के बरामदे में एकाकी बैठा है। इधर माताजी ने राधू को नीचे भेजते हुए कहा, "देख, बरामदे में एक लड़का बैठा है, उसे बुला ले आ।" उस लड़के के आने पर माँ ने उसे दीक्षा दी। मन्त्र पाकर वह आनन्दित हो बाजार से फल-मिठाई लाने चला गया। यह सब देखकर सेवक ने माँ से पूछा, "माँ, इतना सा लड़का है, उसे आपने दीक्षा दे दी? वह भला क्या

समझेगा?" माँ ने उत्तर दिया, "चाहे जो हो। बच्चा है – कल पैर पकड़कर कितना रोया। कौन भगवान् के लिए रोता है बताओ तो? ऐसी बुद्धि कितने लोगों की होती है?"

राँची का एक बालक जगद्धात्री-पूजा के उपलक्ष्य में जयरामवाटी आया हुआ था। परन्तु पूजा की भीड़भाड़ में उसे अपनी दीक्षा की बात कहने का मौका नहीं मिला। जिस दिन उसे लौटना था, उस दिन माताजी का स्वास्थ्य ठीक नहीं था। दूसरों के साथ वह बालक माताजी के दर्शन करने गया और उनके चरणों पर सिर रखकर रोने लगा – इतना कि उसके आँसुओं से माताजी के चरण भीग गये। करुणामयी ने बालक का हाथ पकड़कर स्नेहपूर्वक पूछा, "रोते क्यों हो बेटा? क्या चाहिए – मन्त्र लोगे?" फिर दरवाजा बन्द करके उसी समय उसी अवस्था में उसे मन्त्र दिया।

गड़बेता के निकट के एक ग्राम से एक युवक दीक्षा के लिए आया था। वह लड़का जाति का बागदी था और स्कूल में पढ़ता था। उसने माताजी से दीक्षा के लिए प्रार्थना की। बालक की व्याकुलता देखकर, माताजी सामाजिक विरोध या चर्चा तथा अपने बिगड़े स्वास्थ्य की चिन्ता न करते हुए, मन्त्र देने को राजी हो गयीं। अगले दिन ठाकुर की पूजा के पश्चात् उन्होंने बालक को मन्दिर में बुलाकर दीक्षा दी। ठाकुर जो कहा करते थे –"भक्तों की जाति नहीं है।...सब भक्त एक ही जाति के हैं।"

१७. लीलासंवरण

जयरामवाटी आने के बाद से ही माताजी को बीच-बीच में मलेरिया का बुखार आने लगा था। बुखार बढ़ जाने पर वे लेट जाती थीं। पर फिर उठकर संसार के कार्य तथा भक्त परिजनों की सेवा में लग जाती थीं। दीक्षादान भी चलता ही रहता था।

१९१९ ई. में भक्तों ने जयरामवाटी में उनका जन्मोत्सव मनाया। उस शुभ अवसर पर माँ का आशीर्वाद पाने की आशा से बहुतसे भक्त वहाँ एकत्र हुए थे। भक्तों ने उनके ललाट पर सिन्दुर, चन्दन और गले में पुष्पमाला चढ़ायी। बहुतसे लोग उनके चरणों में पुष्पांजलि देने लगे। सेवक भी पुष्पांजलि देने लगे तो माताजी ने कहा, "आज विशेष दिन है। और भी फूल ले आओ – जयरामवाटी तथा कोआलपाड़ा के सभी भक्तों के नाम ले-लेकर पुष्पांजलि दो। राखाल, शरत्, तारक, खोका, योगेन, गोलाप आदि सभी के नाम से फूल चढ़ाओ। जो भक्त – मेरे परिचित या अपरिचित – नहीं आ सके हैं उन सभी के कल्याणार्थ पुष्पांजलि दो।" सेवक उसी प्रकार पुष्पांजलि देने लगे और माताजी गले में आँचल लपटाये, हाथ जोड़े ठाकुर की ओर देखती हुई सब के मंगलार्थ प्रार्थना करने लगीं तथा छलछलाए नेत्रों से कहने लगीं, "ठाकुर, सब का इहकाल और परकाल सम्हालना।"

जन्मतिथि के दिन सन्ध्या समय उन्हें बुखार चढ़ा – फिर कई दिन तक वे कष्ट भोगते रहीं। बीच-बीच में वे थोड़ी अच्छी रहतीं, पर फिर बुखार आ जाता। इस प्रकार रोग भोगते हुए उनका शरीर जर्जरित हो गया। परन्तु ऐसी हालत में भी दीक्षा देना बन्द नहीं हुआ। भक्तगण कितनी दूर-दूर से कितनी आशा के साथ आते हैं – अत: माँ के लिए उन्हें लौटा देना कैसे सम्भव था! बहुधा वे अपनी बीमारी की बात कहती

ही न थीं – उन्हें भय था कि इससे कहीं भक्तों का दर्शन आदि बन्द न हो जाए और सेवकगण चिन्तित न हो जाएँ।

इधर माताजी निरन्तर कष्ट भोग रही हैं तथा अत्यन्त दुर्बल हो गयी हैं – यह समाचार पाते ही स्वामी सारदानन्द ने चिकित्सा के लिए उन्हें शीघ्रातिशीघ्र कलकत्ता लाने की व्यवस्था की। २७ फरवरी १९२० ई. को माताजी कलकत्ता पहुँचीं। उनका अस्थिचर्ममय क्षीण शरीर देखते ही योगीन-माँ आदि भक्त-महिलाएँ कह उठीं, "तुम लोग माँ को कैसा बना लाये हो! केवल कुछ चमड़ा और हड्डियाँ मात्र ले आये हो। माँ का स्वास्थ्य इतना बिगड़ गया है, इसकी हमें तनिक भी कल्पना नहीं थी।" स्वामी सारदानन्द ने विशेष तत्परतापूर्वक माँ के लिए अच्छी चिकित्सा का प्रबन्ध किया। एक एक कर क्रमशः होम्योपैथी, आयुर्वेदिक तथा ऐलोपैथिक चिकित्सा चलने लगी। कलकत्ता के प्रसिद्ध चिकित्सकों की चिकित्सा, हार्दिक सेवा-शुश्रूषा तथा योग्य पथ्य की व्यवस्था होने लगी। फिर इसके साथ ही शान्ति-स्वस्त्ययन आदि भी चलने लगा। प्रारम्भ में माताजी के स्वास्थ्य में कुछ सुधार होते देखकर सब की आशा बँधी। माताजी की अत्यधिक अस्वस्थता के कारण दर्शनादि बन्द था। पर इसी बीच जिस दिन उन्हें थोड़ा अच्छा लगता उस दिन वे बहुतसे लोगों को दर्शन देतीं तथा दो-एक को दीक्षा भी देती थीं।

माताजी को अब मानो ठाकुर की पुकार सुनाई देने लगी थी। वे अब महाप्रस्थान के लिए प्रस्तुत होने लगीं। एक दिन डेढ़-दो बजे उनका ज्वर बढ़ने लगा। सेवक प्रतिदिन की भाँति उनकी शय्या के पास बैठकर उन्हें पंखे से धीरे-धीरे हवा कर रहे थे तथा उनके मस्तक पर गीला ठंडा हाथ फिरा रहे थे। स्नेहपूर्वक सेवक-सन्तान की छाती और पीठ पर से हाथ फेरते हुए तथा सेवक के सूखे चेहरे की ओर ताकते हुए माताजी ने करुण स्वर में कहा, "मैं समझती हूँ कि यह शरीर चले जाने पर तुम लोगों को

कष्ट होगा।" अपने सजल नेत्रों को झुकाये सेवक स्वयं को सम्हालते हुए बोले, "माँ, ऐसी बातें क्यों कहती हैं? चिकित्सा से भी जब वैसा फल नहीं हो रहा है तो आप शरीर के लिए थोड़ा ठाकुर से कहिए न! इससे सब ठीक हो जाएगा।" माताजी मृदु हास्य के साथ बोलीं, "कोआलपाड़ा में इतना ज्वर होता था, अचेत होकर बिस्तर में पड़ जाती थी, परन्तु होश में आने पर शरीर ० लिए जब ठाकुर का स्मरण करती, तभी उनके दर्शन होते थे।...तुम लोगों की ओर देखकर कभी-कभी शरीर के लिए ठाकुर से कहा करती हूँ। पर अब शरीर के लिए जब भी उनका स्मरण करती हूँ, किसी भी तरह उनके दर्शन नहीं पाती। मुझे तो लगता है उनकी इच्छा नहीं है कि अब यह शरीर रहे। शरत् रहेगा।"

सभी चिकित्साओं को व्यर्थ सिद्ध करते हुए रोग क्रमशः बढ़ा ही चला जा रहा था। दिन भर में चार बार बुखार आता था। डॉ. नीलरतन सरकार तथा प्राणधन बाबू आदि ने अन्त में राय दी की माताजी को काला आजार हुआ है। तदनुसार चिकित्सा भी होने लगी। माँ के शरीर में असह्य जलन होती थी।वे कहा करती – " तालाब के जल में देह को डुबाए रखूँगी।" फिर प्रायः यह भी कहतीं –"मुझे गंगा के किनारे ले चलो। गंगातट पर मैं शीतल होऊँगी।" परन्तु गंगातीर पर कोई उपयुक्त मकान नहीं मिला। काशी ले जाने की भी बात उठी, परन्तु डॉक्टरों ने कहा कि शरीर की इस अवस्था में उनका हिलना-डुलना बिल्कुल ही उचित नहीं है। निदान काशी ले जाना नहीं हो सका।

बीमारी के बीच भी सब को माताजी का स्नेहस्पर्श मिलता रहता था। प्रातःकाल का समय है। रोग का विवरण जानने के लिए सेवक आये हैं। उन्हें वैद्य के पास जाना है। माँ स्नेहपूर्वक कहती हैं, "कुछ खाकर जाना, देर होगी।" डॉक्टर, वैद्य आते हैं, तो उन्हें माँ फल-मिठाई दिलवाती हैं। आरामबाग के भक्तों ने रमणी नामक एक स्त्री के हाथ

माताजी के लिए कुछ ताड़ के फल भेजे थे। रमणी जब आयी, उस समय माताजी ज्वर में अचेत पड़ी थीं। अत: उसका कुशल-मंगल आदि नहीं पूछ सकी थीं। बाद में इस सम्बन्ध में आरामबाग के भक्तों से कहती है –"रमणी कब आयी कुछ पता ही नहीं चला। बुखार में वेहोश थी। उससे कहना कि वह इसके लिए दु:खी न हो।"

इतनी अस्वस्थता के बीच भी माताजी किसी की सेवा लेने में संकोच करती थीं। वे किसी को अपनी सेवा का मौका ही नहीं देती थीं। माताजी का दोपहर का पथ्य-आहार हो गया था। उन्हें नींद लगे इसलिए सेवक पंखा झलने लगे। चार पाँच मिनट के बाद ही माताजी ने कहा, "बस अब नहीं। तुम्हारे हाथ दुख रहे हैं।" सेवक ने कहा, "नहीं माँ, यह तो छोटासा पंखा है। मेरा हाथ जरा भी दुख नहीं रहा है।" थोड़ी देर आँखें मूँदे रहने के बाद माँ पुन: कहती हैं, "नहीं बेटा, तुम्हारे हाथ दुखेंगे। रहने दो, मैं ऐसे ही सो जाती हूँ।" थोड़ी देर चुप रहकर वे पुन: बोलीं, "बेटा तुम्हारे हाथ में दर्द होगा, इस चिन्ता से मुझे नींद नहीं आ रही है। तुम पंखा बन्द करो, तो मैं निश्चिन्त होकर सोऊँ।" सेवक को हारकर पंखा बन्द ही करना पड़ा। दस मिनट भी हवा करना सम्भव नहीं हुआ।

किसी भी चिकित्सा का फल न होते देखकर सभी लोग चिन्तित थे। माताजी को आहार से अरुचि हो गयी थी तथा शरीर भी अत्यन्त दुर्बल हो गया था। शरीरत्याग के लगभग एक मास पूर्व उन्होंने ठाकुर के नित्य-पूजित चित्र को दूसरे कमरे में ले जाने के लिए कहा, क्योंकि अब वे शौच आदि के लिए भी बाहर नहीं जा पाती थीं। (माताजी जिस कमरे में निवास करती थीं, उसी में ठाकुर की पूजा भी होती थी। उस समय उद्बोधन में अलग पूजागृह नहीं था।) उनके आदेश पर कमरे से पलंग को हटाकर फर्श पर ही उनका बिस्तर लगाया गया। अब माताजी क्रमश: अधिकाधिक अन्तर्मुख होती जा रही थीं। काफी देर तक आँखें मूँदे रहती

थीं। दूसरा कोई उपाय न देखकर स्वामी सारदानन्द ने दैवी प्रतिकार का प्रयास किया। कुछ दिन तक विविध प्रकार के शान्ति-स्वस्त्ययनों का अनुष्ठान चला, परन्तु माताजी के स्वास्थ्य में कोई सुधार नहीं दिखाई दिया।

रक्तहीनता के कारण उनके हाथ-पैर में सूजन दीख पड़ी। फिर असह्य जलन हुआ करती थी। माँ की बीमारी बढ़ती ही जा रही थी। शरीर क्षीण होकर मानो शय्या से लग गया था। वे इतनी दुर्बल हो गयीं कि उनमें उठने तक की क्षमता नहीं रही। चिकित्सकों ने भी अब जीवन की आशा त्याग दी थी।

शरीरत्याग के कुछ दिन पूर्व की एक घटना है। राधू उदास मन से आकर खड़ी हुई। उसे देखते ही माँ ने कहा, "देख, तू जयरामवाटी चली जा। अब यहाँ मत रह।" माँ का आदेश सुनकर राधू हतप्रभ रह गयी। इसके साथ ही उन्होंने निकट उपस्थित सेविका सरला देवी से कहा, "शरत् से इन लोगों को जयरामवाटी भेज देने को कहो।" सेविका ने पूछा, "आप इन लोगों को जयरामवाटी भेज देने को क्यों कहती हैं? राधू के बिना क्या आप रह सकेंगी?" माँ ने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया, "अवश्य रह सकूँगी। मन को ऊपर उठा लिया है।" सेविका ने जब यह बात योगीन-माँ तथा स्वामी सारदानन्द को बतायी तो योगीन-माँ ने माताजी से पूछा, "उन लोगों को भेज देने को क्यों कहती हो माँ?" माताजी ने धीरतापूर्वक उत्तर दिया, "योगेन, इसके बाद तो उन्हें वहीं रहना होगा न। हरि (स्वामी हरिप्रेमानन्द) जा रहा है; उसी के साथ भेज दो। मन को ऊपर उठा लिया है, अब और नहीं चाहिए।" योगीन-माँ ने विनयपूर्वक कहा, "ऐसी बात न कहो, माँ! तुम्हारे मन उठा लेने पर हम लोग कैसे रहेंगे?" मायातीत लोक की ओर दृष्टि प्रसारित कर माँ ने कहा, "योगेन, माया काट चुकी हूँ, अब और नहीं।" योगीन-माँ और क्या कहतीं? दुःखपूर्ण हृदय से

उन्होंने जाकर स्वामी सारदानन्द को सब कुछ कह सुनाया। सुनकर उन्होंने लम्बी साँस छोड़ते हुए हताश स्वर में कहा, "तो अब माँ को रखा नहीं जा सकेगा। जब उन्होंने राधू के ऊपर से मन को उठा लिया है, तब तो और आशा नहीं है।" माताजी की सेविका को निकट ही उपस्थित देखकर उन्होंने कहा, "तुम लोग प्रयास करके देखो, यदि माँ का मन राधू के ऊपर लौट आए।" परन्तु उनके प्रयास भी निष्फल हुए। उनका उद्देश्य समझकर एक दिन माताजी ने स्पष्ट रूप से कह दिया, "जिस मन को उठा लिया है, जान लो, वह फिर नहीं उतरने का।"

माताजी के द्वारा अपना मन उठा लेने की इस घटना ने धीरे-धीरे विविध रूपों में व्यक्त होकर सब को सशंकित कर दिया। ब्रह्मचारी हरि के जयरामवाटी चले जाने के बाद ही माताजी ने एक दिन सेवक वरदा से पूछा, "राधू, नलिनी आदि उस दिन हरि के साथ गाँव को क्यों नहीं चली गयीं? उन सब को जयरामवाटी पहुँचा आओ।" यह बात स्वामी सारदानन्दजी को बताने पर वे विशेष चिन्तित हो गये। माताजी के पास आकर उन्होंने बड़े विनीत भाव से कहा, "आपको इस बीमारी में छोड़कर जाते इन्हें कष्ट होगा। आपके थोड़ा ठीक हो जाने पर वे चली जाएँगी।" इस पर माताजी ने कहा, "उन्हें भेज देना ही अच्छा होता। देखना कि वे मेरे निकट न आएँ। मुझे अब उनकी छाया तक देखने की इच्छा नहीं है।" माया को उन्होंने बिल्कुल ही काट दिया था। माँ के भवन में क्रमशः सर्वत्र ही निराशा का गहन अन्धकार फैलने लगा।

एक दिन राधू निकट के कमरे में सो रही थी। उसका छोटा बच्चा जिसे माताजी स्नेहपूर्वक 'बनू' कहा करती थीं, जागते ही 'माँ-माँ' करते हुए माताजी के बिस्तर के पास आकर उनकी छाती पर चढने लगा। यह देखकर माताजी उससे कहने लगीं। "तुम लोगों की माया बिल्कुल काट दी है। जा, जा, अब और कुछ नहीं कर सकेगा।" निकट-स्थित सेवक

से उन्होंने कहा, "इसे उठाकर उधर रख आओ। अब यह सब अच्छा नहीं लगता।" सेवक उस बच्चे को उठाकर उसकी नानी के पास ले गये।



मताजी की स्वयं की इच्छा कुछ थी ही नहीं। वे ठाकुर की इच्छा के यन्त्र के समान थीं। नरदेह में रहना तथा नरलीला भी ठाकुर की इच्छा से ही हुआ था। फिर अन्त समय में वे 'ठाकुर जब ले जाएँगे तो जाऊँगी,' इसी भाव में तन्मय थीं। माताजी ने एक बार कहा था – "अपने कार्य के लिए ही तो उन्होंने 'राधू राधू' करके इस शरीर को रखा है। जब उसके उपर से मन उठ जाएगा, तब यह देह नहीं रहेगी।" माताजी की उन उक्तियों का अब सब को विशेष रूप से स्मरण होने लगा।

उन्होंने जीवकल्याणार्थ ही शरीर धारण किया था तथा अपने मायामुक्त मन को जीवत्राण के कार्य में लगाने के निमित्त ही उन्होंने राधू से मायिक सम्बन्ध बना लिया था। उस सम्बन्ध को अब वे तोड़ रही थीं। इसीलिए देहत्याग के कुछ दिन पूर्व जब राधू माताजी के सम्मुख आकर सिर नीचा किये रोने लगी, तो उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा, "तिनके की तरह काट चुकी हूँ। अब तू मेरा कर ही क्या सकती है? मैं क्या मानवी हूँ?" राधू के साथ माताजी की यही अन्तिम बात थी। राधू उन्हें अपनी बूआ के रूप में ही जानती थी।

नरलीला-संवरण के अब मात्र सात दिन रह गये थे। प्रातःकाल लगभग साढ़े सात बजे माताजी ने शरत् महाराज को बुलाया। वे आकर माँ के चरणों के निकट बायीं ओर घुटने टेककर बैठ गये और नीचे झुककर माँ के हाथ सहलाने को उद्यत हुए। पर माँ ने शरत् महाराज के दाहिने हाथ पर अपना बायाँ हाथ रखकर कहा, "शरत् ये लोग रहे", और इसके साथ ही अपना हाथ उठा लिया। शरत् महाराज अत्यन्त कष्टपूर्वक अपने आँसू रोककर दुःखपूर्ण हृदय से उठ खड़े हुए तथा धीरे धीरे पीछे हटते हुए बाहर चले आये।

देहत्याग के केवल पाँच दिन पूर्व की बात है। भक्त अन्नपूर्णा की माँ माताजी को देखने आयी हैं, पर अन्दर जाना मना है, अत: वे कमरे के द्वार पर खड़ी होकर दर्शन कर रही हैं। ठीक उसी समय अचानक माताजी ने करवट बदलकर उन्हें देखा और संकेत से पास बुलाया। उन्होंने निकट जाकर प्रणाम किया और रोती हुई बोलीं, "माँ, हम लोगोंका क्या होगा?" करुणाविगलित क्षीण स्वर में माताजी ने अभय देते हुए थोड़ा रुक-रुककर कहा, "भय क्या है बेटी? तुमने ठाकुर को देखा है, फिर भय किस बात का?" थोड़ा रुककर वे पुन: धीरे-धीरे कहने लगीं "पर एक बात कह दूँ – यदि शान्ति चाहती हो बेटी, तो किसी के दोष न देखना। दोष देखना स्वयं का। जगत् को अपना बना लेना सीखो। कोई पराया नहीं है बेटी, दुनिया तुम्हारी अपनी है।" विश्ववासियों के लिए माताजी का यही अन्तिम सन्देश है।

अन्तिम दो दिन माताजी मानो गहन समाधि में स्थिर प्रशान्त थी। उस प्रशान्ति में बाधा डालने का कोई भी साहस नहीं कर पाता था, इच्छा भी नहीं होती थी। आखिरकार ठाकुर के साथ उनके चौंतीस वर्षव्यापी स्थूल विच्छेद का अन्त हो आया। २० जुलाई, १९२० ई. को रात डेढ़ बजे, ६६ वर्ष ७ माह की आयु में माताजी शिवयोग से महासमाधि द्वारा परमशिव श्रीरामकृष्ण के साथ चिरमिलित हुईं।

दीर्घकाल तक कठोर रोग भोगते रहने के कारण उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल तथा क्षीण हो गया था। किन्तु देह त्यागते ही रोग के सभी चिह्न दूर हो गये और उनका मुखमण्डल एक अपूर्व शान्ति एवं दिव्यज्योति से उद्भासित हो उठा। वह दिव्यभाव अगले दिन तक अक्षुण्ण बना रहा। उस दिव्य मुखकान्ति से माताजी मानो जीवन्त सी प्रतीत हो रही थीं।

●

अगले दिन (२१ जुलाई को) लगभग साढ़े दस बजे स्वामी सारदानन्दजी के नेतृत्व में अगणित साधु-भक्तों ने गन्ध-पुष्प-माल्य आदि

से सुसज्जित पलंग पर माताजी की पावन देह को वहन कर, नाम-संकीर्तन करते हुए, बागबाजार के मातृभवन से वराहनगर होकर बेलुड़ मठ की यात्रा की। अनेक पुराने, वयस्क भक्त भी इसके साथ-साथ पैदल ही चले। धीरे-धीरे और भी सैकड़ों भक्त उस शोभायात्रा में सम्मिलित हुए। वराहनगर से नाव द्वारा पार होकर माताजी की देह बेलुड़ मठ में गंगातट पर रखी गयी। फिर भक्त-महिलाओं ने माताजी को गंगास्नान कराकर, नवीन वस्त्र पहनाया और पुष्पमाला आदि से सजाकर आरती उतारी। अपराह्ण में तीन बजे स्वामीजी के मन्दिर से उत्तर की ओर चन्दन काष्ठ से सज्जित चिता में माताजी की पावन देह को अग्नि दी गयी। चिता बुझने के पूर्व ही दीख पड़ा कि गंगा के उस पार वर्षा हो रही है। पर इस पार कुछ भी नहीं हुआ। सन्ध्या के पूर्व चिताग्नि को बुझाने के निमित्त जब स्वामी सारदानन्दजी ने प्रथम कलश का गंगाजल ढाला तो तुरन्त ही मूसलाधार वर्षा ने मठभूमि को सराबोर कर दिया। होमाग्नि शान्त हुई। सिर पर शान्तिजल तथा हृदय में गहन विषाद लिये सभी लोग अपने-अपने स्थान को लौट आये।...

उस पवित्र चितास्थान पर गंगामुखी मातृमन्दिर का निर्माण हुआ और २१ दिसम्बर १९२१ ई., बुधवार को माताजी की जन्मतिथि के अवसर पर उस मन्दिर की यथाविधि प्रतिष्ठा हुई। आज यह शक्तिपीठ देश-विदेश के अगणित नर-नारियों की श्रद्धा, भक्ति तथा आकर्षण का केन्द्र है।

ॐ तत् सत्।

उपदेश

* * * * * *

श्रीरामकृष्ण :

१. ठाकुर को मन की बातें बताते हुए प्रार्थना करना, रो-रोकर हृदय का दुःख कह सुनाना; देखोगे वे बिल्कुल गोद में उठा लेंगे।

२. मन्त्रतन्त्र कुछ नहीं है बेटी, भक्ति ही सब कुछ है। ठाकुर के भीतर ही गुरु, इष्ट सब को पाओगी। वे ही सब हैं।

३. इस बार ठाकुर का सरल पथ है, इसीलिए (सुविधा है)।

४. जो थोड़ा पाल तान देगा (यानी साधना करेगा) तथा शरणागत होगा, वह धन्य हो जाएगा। इस बार (मलय पवन बहने के फलस्वरूप) घास और बाँस को छोड़कर, जिसमें भी थोड़ासा सार है, वह चन्दन हो जाएगा। तुम लोगों को चिन्ता ही क्या है।

५. ठाकुर का नाम लेना, उनमें खूब विश्वास रखना। संसार में जैसे माता-पिता बच्चे के आश्रय हैं, वैसे ही ठाकुर को समझना।

६. जब ठाकुर के शरणागत हुए हो तो सब हो जाएगा।

७. ठाकुर कह गये हैं कि यहाँ के सभी को वे अन्तिम दिन अवश्य दर्शन देंगे तथा अपने साथ ले जाएँगे।

८. तुम लोगों को क्या भय? उनके शरणागत होकर रहना और सर्वदा जान रखना कि ठाकुर तुम्हारे पीछे हैं।

९. ठाकुर ही एकमात्र रक्षक हैं – इस बात का सदा स्मरण रखना। यह भूले कि सब भूल होगी।

१०. ठाकुर इतनी साधना करके सारा फल जीवोद्धार के लिए दे गये हैं।

११. उनका स्मरण करने से कोई दु:ख नहीं रहेगा। जिस किसी ने एक बार भी उन्हें पुकारा है, उसे कोई भय नहीं। उनका नाम लेना – उनमें खूब विश्वास रखना।

१२. मैं तुम लोगों को क्या कहूँ बेटी, मैं तो कुछ जानती नहीं। अपने पास ठाकुर का एक चित्र रखना और उन्हें सत्य समझना। वे तुम्हारे निकट हैं। उनके पास व्याकुलतापूर्वक रो-रो कर अपने मन का दु:ख बताते हुए कहना - "मुझे अपनी ओर खींच लो, मुझे शान्ति दो।" ऐसा करते-करते तुम्हारे प्राणों में अपने आप ही शान्ति आ जाएगी।

गुरुभक्ति तथा मन्त्र :

१३. गुरु के प्रति भक्ति रहनी चाहिए। गुरु चाहे जैसे भी हों, उन पर भक्ति रखने से ही मुक्ति होती है। ठाकुर की सन्तानों में कितनी गुरुभक्ति है, देखो न! इस गुरुभक्ति के कारण ही वे लोग गुरुवंश के सभी को, यहाँ तक कि उनके देश की बिल्ली तक को सम्मान देते हैं।

१४. गुरुवाक्य पर विश्वास करना चाहिए। जो उनके ऊपर निर्भर रहता है, उसकी वे सभी विपत्तियों से रक्षा करते हैं।

१५. मन्त्र के भीतर से शक्ति जाती है। गुरु की शक्ति शिष्य में जाती है और शिष्य की गुरु में।

१६. मन्त्र के द्वारा देहशुद्धि होती है। भगवान् का मन्त्र जपकर मानव पवित्र हो जाता है।

१७. भगवन्नाम का बीज कितना छोटा है! पर समय आने पर उसी से भाव, भक्ति, प्रेम आदि कितनी बातें हो जाती हैं।

१८. गुरु होना बड़ा ही कठिन है। शिष्य अच्छा हो तो गुरु का भी भला होता है।

१९. अभ्यास में कितनी शक्ति है। जप का अभ्यास करते करते मनुष्य सिद्ध हो जाता है– "जपात् सिद्धिः, जपात् सिद्धिः, जपात् सिद्धिर्न संशयः।"

२०. एक ही गुरु कितने लोगों को मन्त्र देते हैं, पर सभी लोग क्या समान होते हैं? जो जैसा आधार है, उसमें वैसा ही विकास होता है।

साधनपथ :

२१. भगवान् के लिए तपस्या करने की आवश्यकता है। इन्द्रिय-संयम चाहिए। यह जो विधवाओं के लिए इतना सब विधान है, सब इन्द्रिय-संयम के ही निमित्त है।

२२. कितने सौभाग्य से यह जन्म मिला है, भगवान् को खूब पुकारे जाओ। परिश्रम करना पड़ता है। परिश्रम किये बिना कुछ होता है क्या? संसार के कार्यों के बीच भी थोड़ा समय निकाल ही लेना चाहिए।

२३. मन तो बेटी, मतवाला हाथी है। वह वायु के साथ-साथ दौड़ता है। इसीलिए सभी कुछ सदसत्-विचारपूर्वक देखना पड़ता है।

२४. प्रसाद और प्रभु में कोई भेद नहीं है, मन में ऐसा दृढ़ विश्वास रखना।

२५. भक्ति और वासनाशून्यता की कामना करनी चाहिए। यह कामना के अन्तर्गत नहीं है।

२६. सन्धिक्षण में ही उन्हें पुकारना सब से अच्छा है। रात बीत रही है, प्रभात हो रहा है, इसी प्रकार दिन डूब रहा है, रात आ रही है ये ही सन्धिक्षण हैं। इस समय मन पवित्र रहता है।

२७. मृत्यु का जब कोई निश्चित समय नहीं है, तो मौका मिलते ही, काल-अकाल की परवाह न करके सत्कार्य कर लेना उचित है।

२८. सत्संग करो, सत्प्रयास करो, धीरे-धीरे सब हो जाएगा।

२९. घड़ी की सुई के समान प्रतिक्षण इष्टमन्त्र का जप करते रहना।

३०. जप आदि क्या है जानते हो? उसके द्वारा इन्द्रियों का विकार नष्ट हो जाता है।

३१. तुम्हें जो (मन्त्र) मिला है, उसी में डूब जाओ। जप-ध्यान करना, सत्संग में रहना और अहंकार को कदापि सिर न उठाने देना।

३२. मन में सदा विचार करना कि मैं किसकी सन्तान हूँ, किसका शिष्य हूँ। जब भी मन में कोई बुरा भाव उठे तो मन से कहना – 'उनकी सन्तान होकर क्या मैं ऐसा कार्य कर सकता हूँ?' देखोगे कि मन में बल आएगा, शान्ति मिलेगी।

३३. अकेले में रो-रोकर उनसे प्रार्थना करना। वे मन का सारा मैल और कष्ट दूर कर देंगे तथा सब कुछ समझा देंगे।

३४. साधना का अर्थ है – सर्वदा उनके चरणकमलों में मन लगाये रखना, उसे उन्हीं के चिन्तन में डुबाये रखना।

३५. अभी मन कच्चा है न! अत: नित्य ही ध्यान करना। ध्यान करते करते मन स्थिर हो जाएगा।

३६. सर्वदा विचार करते रहना। मन जिस विषय की ओर जाता है उसे अनित्य सोचकर मन को भगवान् में समर्पित करना।

३७. मन स्थिर न हो तो भी बैठे बैठे भगवान् का नामजप किया जा सकता है।

३८. साधना करते करते देखोगे कि मेरे भीतर भी वे ही हैं ओर तुम्हारे भीतर भी वे ही हैं।

कर्मयोग :

३९. जिसके प्रति जो भी कर्तव्य है उसे किये जाओ, पर एक ईश्वर को छोड़कर और किसी से प्रेम न करना।

४०. कर्म किये बिना क्या मन ठीक रहता है? चौबीसों घण्टे क्या ध्यान-चिन्तन किया जा सकता है? इसीलिए कर्म लेकर रहना चाहिए। इससे मन अच्छा रहता है।

४१. कर्म तो करना ही चाहिए। कर्म करते-करते कर्म का बन्धन कट जाता है। तभी निष्काम-भाव का उदय होता है। एक क्षण के लिए भी कर्म छोड़कर रहना उचित नहीं।

४२. मन सदा बुरे कार्यों में ही जाना चाहता है, भला कार्य करने की इच्छा होने पर भी मन उधर जाना नहीं चाहता। इसीलिए सत्कर्म करने के लिए हार्दिक प्रयास तथा दृढ़ता की आवश्यकता है।

४३. ठाकुर का काम करना और साधन-भजन करना। अकेले बैठे रहने पर मन में तरह-तरह के व्यर्थ के विचार आ सकते हैं।

४४. कर्मफल तो भोगना ही होगा। पर हाँ, जहाँ फाल धँसने की बात थी, वहाँ ईश्वर का नाम लेने से सुई मात्र गड़ेगी।

शरणागति एवं व्याकुलता :

४५. चाहे जितना भी जप करो और चाहे जितना भी कर्म करो – यह सब कुछ भी नहीं है। महामाया द्वारा पथ छोड़ दिये बिना किसकी क्या क्षमता है! हे जीव, शरणागत होओ, केवल शरणागत हो जाओ, तभी वे दया करके पथ छोड़ देंगी।

४६. जो व्याकुल होकर उन्हें पुकारेगा, उसी को उनके दर्शन प्राप्त होंगे।

४७. मेरे ऊपर भार देकर निश्चिन्त रहो। और सदा के लिए यह जाने रहो कि तुम्हारे पीछे एक ऐसा कोई है, जो समय आने पर तुम्हें नित्यधाम को ले जाएगा।

४८. इस जीवन का उद्देश्य ईश्वरप्राप्ति तथा सर्वदा उनके पादपद्मों में मग्न होकर रहना है।

४९. पुकारते रहो, धीरे-धीरे होगा। कितने ही ऋषि-मुनि युग-युग तक तपस्या करके भी उन्हें नहीं पा सके और तुम लोगों के थोड़ा करने से ही हो जाएगा? इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में होगा। अगले जन्म में नहीं हुआ, तो उसके बाद के जन्म में होगा। भगवान् की प्राप्ति क्या इतनी आसान बात है?

आदर्श गृही :

५०. देखो बेटी, आघात पाकर तो बहुतसे लोग रामनाम लिया करते हैं, परन्तु जो व्यक्ति बचपन से ही अपना पुष्प के समान मन प्रभु के चरणों में दे सकता है, वही धन्य है।

५१. जिसका जो प्राप्य है उसको उससे वंचित करना उचित नहीं। ये जो सब्जी के छिलके हैं, यह गाय का प्राप्य है, इसे गाय के मुँह के पास रखना चाहिए।

५२. जिसके बहुतसे लड़के बच्चे हो जाते थे, ठाकुर उसे स्वीकार नहीं करते थे। वे भी क्या मनुष्य हैं! संयम आदि कुछ भी नहीं, मानो पशु।

५३. पति कहो, पुत्र कहो या अपनी देह कहो – सब माया है। माया के ये सब बन्धन काटे बिना पार नहीं हुआ जा सकता। ... कैसी देह बेटी? डेढ़ सेर राख छोड़ और क्या है! इस पर गर्व कैसा? कितनी भी बड़ी देह क्यों न हो, जलने पर तो वही डेढ़ सेर राख बचेगी।

५४. ज्यादा फिजूल खर्च करने को मना करना। भक्तगृहस्थ के पास पैसा होने पर वह कितना उपयोगी होता है।

५५. सृष्टि दुःख-सुख से पूर्ण है। दुःख न रहने पर सुख क्या समझा जा सकता है? कोई चिरकाल तक सुखी नहीं रहेगा, फिर किसी के सभी जन्म दुःख में भी नहीं बीतेंगे। जैसा कर्म होता है, वैसा फल मिलता है, और वैसा ही योगायोग भी घटता है।

५६. संसार में क्या सुख है? अभी है, दूसरे क्षण नहीं।

५७. भगवान् की प्राप्ति होने पर और क्या होता है? क्या दो सींग निकल आते हैं?— नहीं, उससे सदसत्-विचार आता है। मानो चैतन्य हो जाता है। और वह व्यक्ति जन्म-मृत्यु के पार चला जाता है।

५८. अत्यन्त सावधानीपूर्वक जीवन बिताना चाहिए। प्रत्येक कर्म का फल होता ही है। किसी को कष्ट देना या कटु वाक्य कहना अच्छा नहीं।

५९. पृथ्वी के समान सहनशीलता चाहिए। पृथ्वी पर कितने तरह के अत्याचार हो रहे हैं, पर वह निरन्तर सब सहती जा रही है। मनुष्य को भी ऐसा ही होना चाहिए।

६०. जिसमें दया नहीं, वह भी क्या मनुष्य है? वह तो पशु ही है।

विविध :

६१. तोड़-फोड़ तो सभी कर सकते हैं पर बना कितने लोग सकते हैं? किसी की निन्दा-उपहास तो सभी कर सकते हैं, पर कितने उसे सुधार सकते हैं? दुर्बलता तो मानव में है ही।...

६२. अपने मन को दूषित करके ही मनुष्य दूसरों के दोष देखता है। किसी की निन्दा से क्या उसकी कोई हानि होती है? निन्दा करनेवाला ही कष्ट उठाता है।

६३. यहाँ तक कि शब्दों के द्वारा भी किसी को कष्ट नहीं देना चाहिए। व्यर्थ ही किसी को अप्रिय सत्य भी नहीं कह डालना चाहिए। कठोर शब्दों का उपयोग करने से मनुष्य का स्वभाव रुक्ष हो जाता है। वाणी पर संयम न होने पर उसकी विवेकशक्ति चली जाती है।

६४. यदि शान्ति चाहती हो तो बेटी, किसी के दोष मत देखना। दोष स्वयं के देखना। जगत् को अपना बना लेना सीखो। कोई पराया नहीं है बेटी, जगत् तुम्हारा अपना है।

घटनानुक्रमणिका

ईसवी सन्	१८५३	२२ दिसम्बर – बृहस्पतिवार (अग्रहायण कृष्णा सप्तमी) आविर्भाव।
" "	१८५९	मई – विवाह।
" "	१८७२	मार्च – दक्षिणेश्वर में प्रथम आगमन। ५ जून (ज्येष्ठ अमावस्या – षोडशीपूजा।)
" "	१८७३	प्रथम बार जयरामवाटी गमन।
" "	१८७४	२६ मार्च – पिता का देहत्याग।
" "	१८७५	जयरामवाटी में प्रथम बार जगद्धात्री-पूजन।
" "	१८७६	२७ फरवरी – सास का गंगालाभ।
" "	१८८५	जून – श्रीरामकृष्ण के कण्ठरोग का सूत्रपात। ११ दिसम्बर – पतिसेवा के निमित्त काशीपुर उद्यान में आगमन।
" "	१८८६	१६ अगस्त – श्रीरामकृष्ण की महासमाधि। ३० अगस्त – वृन्दावन-यात्रा।
" "	१८८७	३१ अगस्त – कलकत्ता लौटना।
" "	१८८८	मई-जून – बेलुड़ में नीलाम्बर मुखर्जी के उद्यान-भवन में अवस्थान करना।
" "	१८८८	नवम्बर-पुरी गमन।
" "	१८८९	१२ जनवरी – कलकत्ता लौटना और प्रायः तीन सप्ताह बाद आँटपुर जाना।
" "	१८९०	२५ मार्च – गयायात्रा।
" "	१८९३	बेलुड़ में नीलाम्बर मुखर्जी के उद्यान-भवन में पंचतपा-अनुष्ठान।
" "	१८९४	कोयलवार में दो महीने वास।

ईसवी सन्	१८९५	अपनी माता के साथ काशी, वृन्दावन की यात्रा।
" "	१८९८	१२ नवम्बर – बेलुड़ मठ में भूमिपूजन के अवसर पर प्रथम आगमन।
" "	१८९९	२८ मार्च – सेवक स्वामी योगानन्द की महासमाधि।
" "	१९००	२६ जनवरी – राधारानी (राधू) का जन्म।
" "	१९०१	अक्तूबर – दुर्गापूजा के अवसर पर बेलुड़ मठ में आगमन।
" "	१९०६	जनवरी – जननी का देहत्याग।
" "	१९०७	अक्तूबर – दूर्गापूजा के अबसर पर शिरीश के घर जाना।
" "	१९०९	२३ मई – उद्बोधन के अपने भवन में प्रथम बार आगमन।
" "	१९११	फरवरी – दक्षिणभारत की यात्रा। ११ अप्रैल – कलकत्ता लौटना। १० जून – राधू का विवाह।
" "	१९१२	अक्तूबर – बेलुड़ मठ की दुर्गापूजा में उपस्थिति। ५ नवम्बर – काशीगमन
" "	१९१६	१५ मई– जयरामवाटी के नये मकान में गृहप्रवेश। अक्तूबर – दुर्गापूजा के अवसर पर बेलुड़ मठ में आगमन।
" "	१९१८	कोआलपाड़ा में दो महीने निवास। ३० जुलाई – स्वामी प्रेमानन्द की महासमाधि।
" "	१९१९	२९ जनवरी से राधू के साथ कोआलपाड़ा में छह मास निवास। २३ जुलाई – जयरामवाटी गमन। १३ दिसम्बर – जन्मोत्सव, ज्वर का सूत्रपात।
" "	१९२०	२७ फरवरी – कलकत्ते में अन्तिम आगमन। २० जुलाई की रात को डेढ़ बजे लीलासंवरण।



श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य

एवं अन्य आध्यात्मिक प्रकाशनों के लिए लिखें :

रामकृष्ण मठ, (प्रकाशन विभाग)
रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली, नागपुर ४४० ०१२

Shri Saradadevi Sankshipta Jivani Tatha Upadesh : Rs. 10.00